युवराज

श्रीमद्भट्टोजिदीक्षितविरचिता

सिद्धान्त कौमुदी

[कारक (विभक्त्यर्थ) प्रकरण]

डॉ० अशोक कुमार यादव

[बी० ए०, एम० ए०, समकक्ष संस्कृत एवं
प्रतियोगी परीक्षाओं के लिए]

श्रीमद्भट्टोजिदीक्षितविरचिता

सिद्धान्त-कौमुदी

[कारक (विभक्त्यर्थ) प्रकरण]

सम्पादक एवं व्याख्याकार
डॉ० अशोक कुमार यादव
एम० ए०, पी-एच० डी०, यू० जी० सी० नेट
संस्कृत विभागाध्यक्ष
श्री गाँधी स्नातकोत्तर महाविद्यालय, मालटारी (आजमगढ़)

युवराज पब्लिकेशन्स, आगरा-2

सिद्धान्त-कौमुदी

[कारक (विभक्त्यर्थ) प्रकरण]

व्याख्याकार

डॉ० अशोक कुमार यादव

ISBN : 978–93–84506–44–5

संस्करण : 2022

मूल्य : पिच्यहत्तर रुपये मात्र (Rs. : 75.00)

प्रकाशक

युवराज पब्लिकेशन्स

संस्कृत साहित्य के प्रकाशक एवं लाइब्रेरी सप्लायर्स

42, लताकुंज, मथुरा रोड आगरा—282002

मोबाईल : 9012085100, 8273490793

E-mail : yuvrajpublications@gmail.com

मुद्रक

सुरेश प्रिंटिंग प्रेस, आगरा

प्राक्कथन

किसी भी भाषा की सुरक्षा एवं उसके मौलिक ज्ञान के लिए व्याकरण का अध्ययन नितान्त आवश्यक है, क्योंकि संस्कृत भाषा को शुद्ध बोलने और लिखने के लिए संस्कृत व्याकरण का ज्ञान का अनिवार्य है। व्याकरण शब्द वि + आङ् + कृ + ल्युट्(अन) से मिलकर बना है। इसका अर्थ है—विवेचन और विश्लेषण। इस प्रकार 'व्याक्रियन्ते विविच्यन्ते प्रकृति-प्रत्ययादयो यत्र तद् व्याकरणम्' अर्थात् जिसमें शब्दों के प्रकृति-प्रत्यय आदि का विवेचन किया जाता है, उसे व्याकरण कहते हैं। 'वाक्यपदीय' में भर्तृहरि ने भी लिखा है—"साधुत्व ज्ञानविषया सैषा व्याकरणस्मृतिः" (१.१४३) अर्थात् साधु शब्दों का ज्ञान, असाधु शब्दों का निराकरण, भाषा के स्वरूप को नियन्त्रित रखना तथा प्रकृति-प्रत्यय के बोध के द्वारा शब्दों के वास्तविक स्वरूप का स्पष्टीकरण करना-यह व्याकरण का उद्देश्य है।

प्रस्तुत पुस्तक में कारक-प्रकरण या विभक्त्यर्थ-प्रकरण को सरलतम भाषा में समझाने का प्रयास किया गया है। इस पुस्तक में जिज्ञासु छात्रों के सहायतार्थ प्रत्येक सूत्रों तथा उनकी वृत्तियों की व्याख्या, उदाहरणों की सिद्धि कर ग्रन्थ को सुबोध बनाने का प्रयास किया गया है। प्रसंग प्राप्त कठिन स्थलों का स्पष्टीकरण तथा अन्य ज्ञातव्य तथ्यों का प्रतिपादन भी अच्छे ढंग से किया गया है। मुझे आशा है कि प्रस्तुत विषय सबके लिए उपयोगी सिद्ध होगा। साथ ही साथ इससे विद्यार्थीजन और सुधीगण भी लाभन्वित हो सकेंगे।

इस पुस्तक के प्रणयन में मैं सर्वप्रथम परम पिता परमेश्वर की वन्दना करता हूँ जिनकी प्रेरणा से यह कार्य सम्भव हो सका है। साथ ही मैं उन सभी विद्वानों के प्रति आभारी हूँ जिनके द्वारा लिखित, अनूदित, सम्पादित ग्रन्थों को आधार बनाकर प्रस्तुत ग्रन्थ को पूर्ण करने में समर्थ हो सका हूँ। मैं अपने परम पूज्य गुरु डॉ० स्वामीनाथ गुप्त तथा वन्दनीय डॉ० प्रेम बहादुर सिंह के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ, जिनके आशीर्वाद से इस कार्य को पूरा कर सका। मैं अपने माता-पिता के प्रति शत-शत नमन करता हूँ जिनके आशीर्वाद के बिना जगत में कोई भी कार्य सम्भव नहीं है। मैं भाई अनिल कुमार यादव, बहन सविता यादव के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ, जिन्होंने इस कार्य को सम्पन्न कराने में मेरी मदद की है। मैं अपनी पत्नी श्वेता यादव का सप्रेम आभार व्यक्त करता हूँ, जिसने विषम परिस्थितियों में भी मुझे बार-बार प्रोत्साहित किया।

विज्ञ-वृन्द से सविनय निवेदन है कि ग्रन्थ में अज्ञानतावश कुछ त्रुटियाँ हुई होंगी, उनकी ओर मेरा ध्यान आकर्षित कर मुझे अनुगृहीत करेंगे।

मैं युवराज पब्लिकेशन्स, आगरा के प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ जिन्होंने इसके प्रकाशन का दायित्व स्वीकार कर मुद्रण कार्य सम्पन्न कराकर अपना अमूल्य सहयोग दिया।

—अशोक कुमार यादव

विषय-सूची

✤

सिद्धान्त-कौमुदी

कारक (विभक्त्यर्थ) प्रकरण

विषय प्रवेश

कारक का अर्थ है क्रिया से सम्बन्ध रखने वाला। "क्रियान्वयित्वं कारकत्वम्" अर्थात् क्रिया से साक्षात् सम्बन्ध रखने वाले विभक्ति युक्त पदों को कारक कहते हैं। अथवा क्रिया के सम्पादन में जिसका उपयोग हो, वही कारक कहलाता है। जैसे—श्याम ने विद्यालय में मोहन के लिये पत्र लिखा। इस वाक्य में 'लिखा' क्रिया है। क्रिया को सम्पादित करने वाला कर्त्ता—'श्याम', क्रिया का फल कर्म—'पत्र', क्रिया जिसकी सहायता से हो करण—'कलम', क्रिया जिसके लिये हो सम्प्रदान—'मोहन', क्रिया का आधार अर्थात् क्रिया जिस स्थान पर हो अधिकरण—'विद्यालय'। इस प्रकार श्याम, पत्र, कलम, विद्यालय तथा मोहन का क्रिया से साक्षात् सम्बन्ध है अतः ये सब कारक हैं।

जिसका क्रिया से सीधा सम्बन्ध नहीं होता है उसे कारक नहीं कहते हैं। जैसे—'बालकः मित्रस्य गृहं गच्छति' में 'गच्छति' क्रिया है इसका कर्त्ता 'बालक' है, और इसका कर्म 'गृहम्' है ये दोनों कारक है, किन्तु 'मित्रस्य' का 'गच्छति' क्रिया से सम्बन्ध नहीं है। उसका सम्बन्ध तो 'बालकः' से है। अतः 'मित्रस्य' यहाँ कारक नहीं है। इसीलिए षष्ठी को कारक नहीं माना गया है। अतः संस्कृत व्याकरण में केवल छः कारक माने गये हैं—कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण। इससे सम्बन्धित एक प्रसिद्ध श्लोक इस प्रकार है—

'कर्त्ता कर्म करणं च सम्प्रदानं तथैव च।
अपादानाधिकरणे इत्याहुः कारकाणि षट्।।

संस्कृत में सम्बन्ध और सम्बोधन का क्रिया के साथ साक्षात् सम्बन्ध न रहने के कारण वे कारक नहीं माने जाते हैं।

विभक्ति

'विभक्ति' पद 'वि' उपसर्गपूर्वक 'भज्' धातु से 'क्तिन्' प्रत्यय से बना है, जिसका अर्थ है—विभाग या पृथक्करण। यह विभाग, विभक्ति के सापेक्ष कारकों का विभाग करती है। इन विभक्तियों में 'स्वौजसमौट्-छष्टाभ्याम्भिस्-ङेभ्याम्भ्यस्-ङसिभ्याम्भ्यस्-ङसोसाम्-ङ्योस्सुप्' इत्यादि सूत्र से इक्कीस प्रत्ययों का विधान किया गया है। पुनः ये विभक्तियाँ एकवचन, द्विवचन और बहुवचन के अनुसार तीन-तीन त्रिकों में सात विभागों में विभक्त हैं। इस तरह इक्कीस प्रत्ययों से युक्त सात विभक्तियाँ हैं—प्रथमा, द्वितीया, तृतीया, चतुर्थी, पंचमी, षष्ठी और सप्तमी।

उपर्युक्त कथनों से स्पष्ट है कि कारक अर्थ में आने वाली विभक्तियों को कारक कहते हैं। कारक से भिन्न अथवा किसी पद के योग अथवा अव्यय आदि के योग में आने वाली विभक्ति को उपपद विभक्ति कहते हैं। जैसे—

'अहं रामेण सह गच्छामि' में 'सह' के साथ आने के कारण 'रामेण' में तृतीया हुई है, अतः यह उपपद विभक्ति है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि विभक्ति के दो प्रकार हैं—

१. कारक विभक्ति

२. उपपद विभक्ति

१. प्रथमा

१. प्रातिपदिकार्थलिंगपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा २।३।४६।।

नियतोपस्थितिकः प्रातिपदिकार्थः। मात्रशब्दस्य प्रत्येकं योगः। प्रातिपदिकार्थमात्रे लिंगमात्राद्याधिक्ये परिमाणमात्रे संख्यामात्रे च प्रथमा स्यात्। उच्चैः, नीचैः, कृष्णः, श्री, ज्ञानम्। अलिंगा नियतलिंगाश्च प्रातिपदिकार्थमात्रे इत्यस्योदाहरणम्। अनियतलिंगास्तु लिंगमात्राद्याधिक्यस्य तटः, तटी, तटम्। परिमाणमात्रे-द्रोणो व्रीहिः। द्रोणरूपं यत्परिमाणं तत्परिच्छिन्नो व्रीहिरित्यर्थः। प्रत्ययार्थे परिमाणे प्रकृत्यर्थः अभेदेन संसर्गेण विशेषणम्। प्रत्ययार्थस्तु परिच्छेद्यपरिच्छेदकभावेन व्रीहौ विशेषणमिति विवेकः। वचनं संख्या। एकः, द्वौ, बहवः। इह उक्तार्थवाद् विभक्तेरप्राप्तौ वचनम्।

अर्थात् प्रातिपदिकार्थ (शब्द का निश्चित अर्थ बताने में) मात्र, लिंग (पुल्लिंग स्त्री., और नपु.) मात्र, परिमाण (माप, तौल) मात्र तथा वचन (संख्या) मात्र में प्रथमा विभक्ति होती है।

नियतोपस्थितिकः प्रातिपदिकार्थः शब्द से जिस अर्थ की नियमपूर्वक उपस्थिति होती है वह प्रातिपदिकार्थ है। अर्थात् प्रातिपदिक के उच्चारण करने पर जिस अर्थ की नियम से उपस्थिति हुआ करती है उसी को प्रातिपदिकार्थ कहते हैं। यद्यपि प्राचीन सिद्धान्तों के अनुसार 'पंचकं प्रातिपदिकार्थः' के आधार पर स्वार्थ (जाति), द्रव्य (व्यक्ति), लिंग, संख्या और कारक ये पाँच अर्थ प्रातिपदिक के माने गये हैं; किन्तु यहाँ जाति और व्यक्ति ये दो अर्थ ही लिये जाते हैं, क्योंकि इसी सूत्र में लिंग और संख्या का अर्थ ग्रहण किया गया है, यदि पाँचों ही अर्थ यहाँ इष्ट हो तो लिंग का पृथक ग्रहण व्यर्थ होता है। अतः यहाँ दो जाति और व्यक्ति रूप अर्थ ही प्रातिपदिक रूप में लिये जाते हैं। सूत्र में 'मात्र' पद का प्रत्येक के साथ सम्बन्ध है, अतः केवल प्रातिपदिकार्थ, लिंगमात्र एवं परिमाण मात्र अधिक होने पर तथा संख्या मात्र को प्रकट करने के लिये प्रथमा विभक्ति होती है। इस प्रकार प्रथमा विभक्ति चार अर्थों में होती है—

१. प्रातिपदिकार्थमात्रे, २. लिंगमात्रे, ३. परिमाणमात्रे, ४. वचनमात्रे।

प्रातिपदिकार्थमात्रे—सार्थक शब्द को प्रातिपदिक कहते हैं। जिस शब्द के बोलने पर जो अर्थ नियम से उपस्थित होता है, उसे प्रातिपदिक कहते हैं। संस्कृत

वैयाकरणों के अनुसार किसी शब्द में जब तक प्रत्यय लगाकर पद (सुप्तिङन्तं पदम्) न बना लिया जाय, तब तक उसका अर्थ नहीं समझा जा सकता। अतएव यदि किसी शब्द के केवल अर्थ का बोध कराना हो तो प्रथमा विभक्ति लगाते हैं। उच्चैः (ऊँचा), नीचैः (नीचा), कृष्णः (कृष्ण), श्रीः (लक्ष्मी) और ज्ञानम् प्रातिपदिकार्थमात्र के उदाहरण हैं। जो शब्द अलिंग हैं अर्थात् ऐसे शब्द जो किसी लिंग का बोध नहीं कराते हैं। उच्चैस्, नीचैस् आदि अव्यय पद अलिंग के उदाहरण हैं। इनसे भी विभक्ति आती है किन्तु 'अव्ययादाप्सुपः' से (उच्चैस् + सु) सु का लोप होकर तथा स् का रुत्व विसर्ग होकर उच्चैः आदि रूप बनता है। अथवा जो नियत लिंग वाले हैं अर्थात् ऐसे शब्द जिनके अर्थ के साथ-साथ लिंग का भी बोध होता हो। जैसे—कृष्णः, श्री, ज्ञानम् नियतलिंग वाले शब्द हैं। अर्थात् कृष्ण शब्द से पुल्लिग की, श्री शब्द से स्त्रीलिंग की तथा ज्ञान शब्द से नपुंसकलिंग की नियम से प्रतीति होती है। इन शब्दों में या तो लिंग होता ही नहीं है या लिंग निश्चित होता है।

लिंगमात्राधिक्ये—प्रातिपदिकार्थ के बिना केवल लिंग आदि की प्रतीति तो होती नहीं, अतः लिंग मात्र का अधिक बोध कराने के लिए प्रथमा होती है। जैसे—तटः, तटी, तटम्। यहाँ जाति तथा द्रव्य से अधिक 'लिंगमात्र' अर्थ की प्रतीति होती है। अतः यहाँ प्रथमा विभक्ति हुई। 'तट' शब्द अनियतलिंग है अर्थात् इसका लिंग एक नियत नहीं है, कभी पुल्लिग, कभी स्त्रीलिंग और कभी नपुंसकलिंग होता है।

परिमाणमात्रे—परिमाण मात्र का अर्थ बताने के लिए प्रथमा विभक्ति होती है। 'द्रोणो व्रीहिः' का अर्थ है द्रोण रूप परिमाण से नापा हुआ व्रीहि (चावल)। यहाँ परिमाण अर्थ में 'द्रोण' शब्द से प्रथमा विभक्ति हुई है। द्रोण एक परिमाण का नाम है। यहाँ 'द्रोणः' से प्रथमा विभक्ति 'सु' प्रत्यय का अर्थ परिमाण है। 'सु' विभक्ति का अर्थ सामान्य परिमाण है और 'द्रोण' का अर्थ विशेष परिमाण। द्रोण का अर्थ 'सु' के अर्थ का अभेद सम्बन्ध के कारण विशेषण हुआ। 'सु' प्रत्यय का जो सामान्य अर्थ है वह व्रीहि के अर्थ का विशेषण हुआ। वस्तुतः द्रोण के अर्थ और 'सु' के सामान्य अर्थ में सामान्य विशेष सम्बन्ध होने से अभेद है।

व्रीहि और द्रोण के साथ प्रथमा विभक्ति होने से मेय-मापक या परिच्छेद-परिच्छेदक सम्बन्ध है। 'सु' प्रत्यय का अर्थ 'व्रीहि' के अर्थ का परिच्छेद परिच्छेदक भाव सम्बन्ध से विशेषण बन जायेगा। द्रोण से व्रीहि नपा हुआ है और व्रीहि का मापक द्रोण है, यह अर्थ निकलता है। यहाँ व्रीहिः में तो प्रातिपादिकार्थ मात्र में प्रथमा हुई, किन्तु द्रोण में परिमाणमात्र की अधिकता से प्रथमा है।

वचनमात्रे—वचन को ही 'संख्या' कहते हैं। केवल संख्या को प्रकट करने के लिए प्रथमा विभक्ति होती है जैसे—एकः, द्वौ, बहवः। यहाँ एकत्व, द्वित्व तथा बहुत्व शब्दों से ही प्रकट हैं। प्रथमा विभक्ति के जो प्रत्यय सु, औ, जस् हैं, उनका भी क्रमशः एकत्व, द्वित्व, और बहुत्व अर्थ होता है। उक्तार्थ होने के कारण यहाँ प्रथमा विभक्ति नहीं होनी चाहिए, इसीलिए सूत्र में 'वचन' पद का विधान किया गया है।

२. सम्बोधने च २।३।४७।।

इह प्रथमा स्यात्। हे राम!

सम्बोधन का अर्थ है सम्यक् बोधन अर्थात् 'भली-भाँति समझना'। वक्ता का श्रोता को अपनी बात सुनने लिए अपनी ओर आकृष्ट करना सम्बोधन कहलाता है। सम्बोधन पद जोर से ही बोला जाता है। हे राम! में सम्बोधन अर्थ में ही 'राम' से प्रथमा विभक्ति हुई है।

सम्बोधन में प्रथमा विभक्ति होती है इसलिए सम्बोधन को अलग से विभक्ति नहीं मानते। हाँ रूप केवल आसानी के लिए दिये गये हैं; क्योंकि सम्बोधन करते समय प्रथमा के एकवचन में कुछ अन्तर पड़ जाता है।

इति प्रथमा।

२. द्वितीया

३. कारके १।४।२३। इत्यधिकृत्य।।

यह अधिकार सूत्र है।

४. कर्तुरीप्सिततमं कर्म १।४।४९।।

कर्तुः क्रियया आप्तुमिष्टतमं कारकं कर्मसंज्ञं स्यात्। कर्तुः किम् ? माषेष्वश्वं बध्नाति। कर्मण ईप्सिता माषाः, न तु कर्तुः तमब्ग्रहणं किम् ? पयसा ओदनं भुङ्क्ते। कर्मेत्यनुवृत्तौ पुनः कर्मग्रहणमाधारनिवृत्त्यर्थम्। अन्यथा गेहं प्रविशति इत्यत्रैव स्यात्।

कर्त्ता अपनी क्रिया के द्वारा जिस पदार्थ को सबसे अधिक चाहता है, वह कारक कर्म संज्ञक होता है।

जिस वस्तु या पुरुष के ऊपर क्रिया का फल समाप्त होता है, उसे कर्म कहते हैं। अर्थात् कर्त्ता का इष्टतम कारक कर्म कहलाता है।

कर्तुः किम् ? कर्त्ता के ईप्सिततम की ही कर्म संज्ञा क्यों कहा है ? इसका उत्तर है—कर्त्ता को क्रिया के द्वारा जो प्राप्ति अत्यन्त अभीष्ट न हो तो उसकी कर्म संज्ञा नहीं होगी, जैसे 'माषेष्वश्वं बध्नाति' (उड़द के खेत में घोड़े को बाँधता है।) इस वाक्य में बाँधने वाला अपनी बाँधने की क्रिया के द्वारा अश्व को वंशगत करना चाहता है। अतएव बाँधने की क्रिया द्वारा अश्व ही कर्त्ता का अभीष्टतम है, न की उड़द। अतः 'अश्व' की उक्त सूत्र से कर्मसंज्ञा होकर उसमें द्वितीया विभक्ति हुई है। चूँकि माष (उड़द) अश्व का अभीष्टतम हो सकती है, पर यहाँ कर्त्ता का अभीष्टतम नहीं है। इसीलिए 'माष' में द्वितीया न होकर सप्तमी विभक्ति हुई है।

तमब् इति 'ईप्सित' शब्द से तमप् प्रत्यय को क्यों लगाया ? इसका उत्तर है—जिस किसी की भी कर्म संज्ञा होगी वह पदार्थ कर्त्ता का सबसे अभीष्टतम होना चाहिए अर्थात् जो सबसे अधिक ईप्सित होगा, उसकी ही कर्म संज्ञा होगी, दूसरे की नहीं। जैसे 'पयसा ओदनं भुङ्क्ते (दूध से भात खाता है) इस वाक्य में दूध भी भात ही की तरह कर्त्ता को प्रिय है, पर कर्त्ता को अपने भोजन व्यापार द्वारा जिसको सबसे अधिक चाहता

है, वह भात है, न कि दूध। अतः उक्त सूत्र से 'ओदन' की कर्मसंज्ञा होकर द्वितीया विभक्ति हुई है। चूँकि यहाँ दूध पेय है, भोज्य नहीं, वह तो केवल भोजन क्रिया के सम्पादन में सहायक है। अतः 'पयसा' में करण कारक तृतीया विभक्ति हुई है।

कर्म इति—पाणिनी के सूत्रों का क्रम इस प्रकार है आधारोऽधिकरण १।४।४५, अधिशीङ्स्थासाम् कर्म १।४।४६, अधिशीङ्स्थासाम् से कर्म आ रहा था, यहाँ कर्म का ग्रहण आधार निवृत्ति के लिए किया गया है। नहीं तो कर्म के साथ आधार भी चला आता तब 'गेहं प्रविशति' आदि में अभीष्टतम आधार 'गेह' की कर्म संज्ञा होती, क्योंकि 'गेह' कर्त्ता को ईप्सिततम है किन्तु 'ओदनं पचति' आदि में 'ओदन' की नहीं होती, क्योंकि 'ओदन' आधार नहीं है। इसी निवृत्ति के लिए 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म' सूत्र में 'कर्म' शब्द का प्रयोग किया गया है, इसलिए 'अधिशीङ्स्थासां कर्म' से 'कर्म' की अनुवृत्ति ग्रहण नहीं की गई है।

५. अनभिहिते २।३।१ इत्यधिकृत्य।

'अनभिहित' शब्द का अर्थ है अनुक्त अर्थात् न कहा हुआ। जिस अर्थ में कोई प्रत्यय आदि होता है अर्थात् जिस अर्थ में तिङ्, कृत्, तद्धित और समास आदि होता है वह अर्थ उक्त हो जाता है। जैसे—'सेव्यते' में तिङ् प्रत्यय हुआ है इसलिए कर्म उक्त गया है। उक्त अर्थ से भिन्न अनुक्त या अनभिहित होता है। इन सूत्रों में अनभिहित (अनुक्त) कर्म समझना चाहिये। यह अधिकार सूत्र है।

६. कर्मणि द्वितीया २।३।२।।

अनुक्ते कर्मणि द्वितीया स्यात्। हरिं भजति। अभिहिते तु कर्मणि 'प्रातिपदिकार्थ मात्रे' इति प्रथमैव। अभिधानं च प्रायेण तिङ्कृत्तद्धितसमासैः। तिङ्-हरिः सेव्यते। कृत्-लक्ष्म्या सेवितः। तद्धित-शतेन क्रीतः शत्यः। समास-प्राप्तः आनन्दो यं सः प्राप्तानन्दः। क्वचिन्निपातेनाभिधानम्। यथा-विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम्। साम्प्रतमित्यस्य हि युज्यत इत्यर्थः।

अनुक्त कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है। जब कर्म का कथन किसी अन्य द्वारा न हुआ तो कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है। जैसे—हरिं भजति (हरि को भजता है) इसमें कर्त्ता का ईप्सिततम 'हरि' है, अतः 'हरि' की 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म' से कर्म संज्ञा हुई है। 'भजति' क्रिया कर्तृवाच्य की है, यहाँ लकार (तिप्) कर्त्ता के अनुसार हुआ है इसलिए कर्म अनुक्त है। किसी प्रत्यय आदि से नहीं कहा गया है। अनुक्त कर्म होने से 'हरिम्' में 'कर्मणि द्वितीया' इस सूत्र से द्वितीया विभक्ति हुई है। कर्तृवाच्य में कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है।

अभिहिते—उक्त कर्म में प्रातिपदिकार्थ मात्र से प्रथमा ही होती है। कर्मवाच्य में लकार कर्म के अनुसार होता है, अतः कर्म उक्त हो जाता है। जैसे-हरिः सेव्यते। इसमें कर्म पद 'हरि' सेव्यते क्रिया द्वारा उक्त होने से 'हरिः' पद में प्रथमा हुई है।

अभिधानमिति—कर्म का अभिधान (कथन) चार प्रकार से होता है—तिङ् प्रत्यय द्वारा, कृत् प्रत्यय द्वारा, तद्धित प्रत्यय द्वारा और समास द्वारा।

तिङ्-हरि सेव्यते (हरि की सेवा की जाती है)—यहाँ कर्म तिङ् से उक्त है क्योंकि यहाँ तिङ् प्रत्यय 'लः कर्मणि च भावे चाकर्मकभ्यः' सूत्र से कर्म अर्थ में लकार हुआ है, कर्मवाच्य की क्रिया है। अतः 'हरिः' में प्रातिपदिकार्थ मात्र में प्रथमा हुई है।

कृत्-लक्ष्म्या सेवितः—(लक्ष्मी से सेवा किया जाता हुआ) यहाँ 'सेवित' पद 'सेव' धातु से 'क्त' प्रत्यय(कृत्) होकर बना है। 'क्त' प्रत्यय कर्म अर्थ में हुआ है। अतः कर्म कृत्य प्रत्यय 'क्त' से उक्त हो गया। इसलिए 'लक्ष्म्या सेवितः हरिः' में कृत् से कर्म उक्त होने से 'हरिः' में प्रातिपदिकार्थ में प्रथमा हुई है।

तद्धित—शतेन क्रीतः शत्यः (सौ रूपये देकर खरीदा हुआ) यहाँ 'शत' शब्द से कर्म अर्थ में 'यत्' तद्धित प्रत्यय होकर 'शत्यः' शब्द बनता है। कर्म तद्धित से उक्त है। अतः 'शत्यः' में प्रथमा हुई है।

समास-प्राप्त आनन्दो यं सः प्राप्तानन्दः—(जिसको आनन्द ने प्राप्त कर लिया) यहाँ प्राप्त और आनन्द दोनों शब्दों का द्वितीयार्थ कर्म में बहुव्रीहि समास हुआ है और अन्यपदार्थ (देवतादि) कर्म बहुव्रीहि समास से उक्त है। अतः 'प्राप्तानन्दः' में प्रातिपदिकार्थ मात्र से प्रथमा हुई है।

क्वचिन्निपातः—कहीं-कहीं कर्मसंज्ञक निपात के द्वारा भी समझा जाता है। जैसे- विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम् (विष वृक्ष को भी बढ़ाकर स्वयं काटना उचित नहीं है) में निपातन द्वारा कर्म उक्त है। 'साम्प्रतम्' का अर्थ 'उचित' असाम्प्रतम्-उचित नहीं (न युज्यते) 'असाम्प्रतम' निपात द्वारा विष वृक्ष की कर्मता उक्त है। अतः 'विषवृक्ष' शब्द में प्रथमा विभक्ति है।

कुछ विद्वानों के अनुसार यह कर्म 'अपि' निपातन द्वारा उक्त हुआ है।

(जो शब्दों के बीच अचानक आ जाते हैं उन्हें निपातन कहते हैं)

७. तथायुक्तं चानीप्सितम् १।४।५०।।

ईप्सिततमवत् क्रियया युक्तमनीप्सितमपि कारकं कर्मसंज्ञं स्यात्। ग्रामं गच्छंस्तृणं स्पृशति। ओदनं भुञ्जानो विषं भुङ्क्ते।

कुछ पदार्थ ऐसे भी होते हैं जो कि कर्त्ता द्वारा अनीप्सित होते हुए भी ईप्सित की तरह ही क्रिया से सटे रहते हैं। उनकी भी कर्म संज्ञा होती है। अनीप्सित पदार्थ दो प्रकार का होता है—

१. **उपेक्ष्य**—जिसके प्रति कर्त्ता उदासीन रहता है और

२. **द्वेष्य**—जिसके प्रति कर्त्ता द्वेष रखता है।

जैसे—'ग्रामं गच्छन् तृणं स्पृशति (गाँव को जाता हुआ तिनके को स्पर्श करता है) यहाँ 'तृण' पद उपेक्ष्य (अनीप्सित) है) किन्तु ईप्सित ही तरह क्रिया 'स्पृशति' से युक्त होने के कारण 'तृण' की भी कर्म संज्ञा होकर द्वितीया विभक्ति हुई है। किन्तु यहाँ 'ग्राम' की तो 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म' से कर्म संज्ञा हुई और 'कर्मणि द्वितीया' से द्वितीया विभक्ति हुई है।

ओदनं भुञ्जानो विषं भुङ्क्ते (भाता खाता हुआ विष खा लेता है) विष कर्त्ता को ईप्सित नहीं है, बल्कि द्वेष्य(अनीप्सित) है लेकिन 'भुङ्क्ते' क्रिया से ईप्सित की तरह सटा है। अतः 'विष' की भी कर्म संज्ञा होकर द्वितीया विभक्ति होगी।

८. अकथितं च १।४।५१।।

अपादानादिविशेषैरविवक्षितं कारकं कर्मसंज्ञं स्यात्।

यह कर्मसंज्ञा विधायक सूत्र है। सूत्र में 'अकथितं' पद का अर्थ है अविवक्षित अर्थात् जो न कहा गया हो। और 'च' पद से कर्म का ग्रहण होता है। तात्पर्य यह है कि अपादान आदि विशेष कारकों से अविवक्षित कारक कर्मसंज्ञक होते हैं। अर्थात् जब अपादान आदि कारक को अपादान में न कहकर, साधारण रूप मे कहा जाय तो उसकी कर्म संज्ञा होती है, और उसे ही गौण कर्म कहते हैं।

दुह्याच्पच्दण्डरुधिप्रच्छिचिब्रूशासुजिमथ्मुषाम्।
कर्मयुक् स्यादकथितं तथा स्यान्नीहृकृष्वहाम्।।

दुहादीनां द्वादशानां तथा नीप्रभृतीनां चतुर्णां कर्मणा यद्युज्यते तदेवाकथितं कर्मेति परिगणनं कर्त्तव्यमित्यर्थः।

दुह्याचि इति—दुह् (दुहना), याच् (माँगना), पच् (पकाना), दण्ड् (दण्ड), रुध् (रोकना), प्रच्छ् (पूछना), चि (चुनना), ब्रू (कहना), शास् (शासन करना), जि (जीतना), मथ् (मथना), मुष् (चुराना), नी (ले जाना), हृ (हरना, ले जाना), कृष् (खींचना), वह् (ढोना)—इन सोलह द्विकर्मक धातुओं और इनकी पर्यायवाची धातुओं का प्रयोग होने पर अपादान आदि कारक की विवक्षा नहीं होती। फलतः 'अकथितं च' से कर्मसंज्ञा होती है।

ऊपरलिखित दुह् आदि बारह और नी आदि चार = इन सोलह धातुओं के कर्म से जिनका (अपादान आदि कारकों का) सम्बन्ध होता है वह अकथित कर्म कहा जाता है। इस प्रकार यहाँ भाष्य आदि में परिगणन किया गया है।

'अकथितं च' सूत्र में जो कर्म होता है, उसे गौण कर्म या अप्रधान कर्म कहते हैं। इन सोलह धातुओं की पर्यायवाची या समानार्थक धातुओं की ही, अपादान आदि की विवक्षा न कर कर्मसंज्ञा करनी चाहिये।

१. **दुह्**—गां दोग्धि पयः (गाय से दूध दुहता है) यहाँ 'गौ' समान्यतः अपादान कारक है; किन्तु यह अपादान के रूप में विवक्षित नहीं है, बल्कि वह तो दूध रूप कर्म के निमित्त रूप में विवक्षित है अर्थात् गाय दूध के निमित्त दुही गयी है। अतः 'अकथितं च' सूत्र से 'गौ' की कर्म संज्ञा होकर 'कर्मणि द्वितीया' से उसमें द्वितीया विभक्ति हुई है। अपादान की विवक्षा में पंचमी विभक्ति होकर 'गोः दोग्धि पयः' ऐसा प्रयोग होगा।

२. **याच्**—बलिं याचते वसुधाम (बलि से पृथ्वी माँगता है) यहाँ 'बलि' अपादान है। इसकी अविवक्षा होने पर 'बलि' की कर्मसंज्ञा होकर द्वितीया विभक्ति हुई है। अपादान की विवक्षा में 'बलेः याचते वसुधा' यह प्रयोग होगा। यहाँ 'वसुधा' मुख्य कर्म और 'बलि' गौण कर्म है।

अविनीतं विनयं याचते (अविनीत से विनय के लिए प्रार्थना करता है) यहाँ याच् धातु का अर्थ अनुनय या प्रार्थना है। यहाँ याच् धातु का मुख्य कर्म अविनीत है तथा विनय में सम्प्रदान की विवक्षा न होने पर 'अकथितं च' सूत्र से कर्म संज्ञा होकर द्वितीया विभक्ति हुई है। सम्प्रदान की विवक्षा में 'अविनीतं विनयाय याचते' होगा।

३. **पच्**—तण्डुलान् ओदनं पचति (चावलों से भात पकाता है) यहाँ 'ओदन' मुख्य कर्म और 'तण्डुल' करण है। 'तण्डुल' में करण की अविवक्षा होने से कर्म संज्ञा होकर द्वितीया विभक्ति हुई है। करण की विवक्षा में 'तण्डुलैः ओदनं पचति' होगा।

४. **दण्ड्**—गर्गान् शतं दण्डयति(गर्गों से सौ रुपये दण्ड लेता है) यहाँ मुख्य कर्म 'शत' है और 'गर्ग' अपादान कारक है। 'गर्ग' में अपादान की अविवक्षा कर कर्मसंज्ञा होकर द्वितीया विभक्ति हुई है। अपादान की विवक्षा में 'गर्गेभ्यः शतं दण्डयति' होगा।

५. **रुध्**—व्रजम् अवरुणद्धि गाम् (व्रज (बाड़ा, गोशाला) में गाय को रोकता है) यहाँ 'गाम्' पद मुख्य कर्म है और 'व्रज' अधिकरण है। अधिकरण की अविवक्षा में 'व्रज' की कर्म संज्ञा होकर उसमें द्वितीया विभक्ति हुई। अधिकरण की विवक्षा में 'व्रजे अवरुणद्धि गाम्' होगा।

६. **प्रच्छ्**—माणवकं पन्थानं पृच्छति (बालक से मार्ग पूछता है) यहाँ 'माणवक' में अपादान की अविवक्षा कर उसकी कर्मसंज्ञा होकर उसमें द्वितीया विभक्ति हुई। अपादान की विवक्षा में 'माणवकात् पन्थानं पृच्छति' होगा।

७. **चि**—वृक्षम् अवचिनोति फलानि (वृक्ष से फलों को चुनता है) यहाँ 'वृक्ष' में अपादान की अविवक्षा कर 'वृक्ष' की कर्मसंज्ञा होकर द्वितीया विभक्ति हुई। अपादान की विवक्षा में 'वृक्षात् अवचिनोति फलानि' होगा।

८. ९. **ब्रू, शास्**—माणवकं धर्म ब्रूते शास्ति वा (माणवक के लिए धर्म कहता है या उपदेश करता है) इस वाक्य में 'माणवक' में सम्प्रदान की विवक्षा न होने से 'माणवक' की कर्मसंज्ञा होकर द्वितीया विभक्ति हुई। सम्प्रदान की विवक्षा में 'माणवकाय धर्मं ब्रूते शास्ति वा' होगा।

१०. **जि**—शतं जयति देवदत्तम् (देवदत्त से सौ रुपये जीतता है) इस वाक्य में 'देवदत्त' में अपादान की अविवक्षा में 'देवदत्त' की कर्मसंज्ञा होकर द्वितीया विभक्ति हुई। अपादान की विवक्षा में 'शतं जयति देवदत्तात्' होगा।

११. **मथ्**—सुधां क्षीरनिधिं मथ्नाति (सागर से अमृत मथता है) इस वाक्य में 'क्षीरनिधि' में अपादान की अविवक्षा में 'क्षीरनिधि' की कर्मसंज्ञा होकर द्वितीया विभक्ति हुई। अपादान की विवक्षा में 'सुधां क्षीरनिधेः मथ्नाति' होगा।

१२. **मुष्**—देवदत्तं शतं मुष्णाति (देवदत्त से सौ रुपये चुराता है) इस वाक्य में अपादान अविवक्षित होने से 'देवदत्त' की कर्मसंज्ञा होकर द्वितीया विभक्ति हुई। अपादान की विवक्षा में 'देवदत्तात् शतं मुष्णाति' होगा।

१३-१६ **नी हृ कृष् वह्**—ग्रामम् अजां नयति हरति कर्षति वहति वा (गाँव में बकरी को ले जाता है, खींचता है या पहुँचाता है) इस वाक्य में 'अजा' मुख्य कर्म है और

'ग्राम' अधिकरण है। अतः अधिकरण की अविवक्षा में 'ग्राम' की कर्म संज्ञा होकर उसमें द्वितीया विभक्ति हुई। अधिकरण की विवक्षा में 'ग्रामे अजां नयति हरति कर्षति वहति वा' होगा।

अर्थनिबन्धनेयं संज्ञा। बलिं भिक्षते वसुधाम्। माणवकं धर्मं भाषते अभिधत्ते वक्ति इत्यादि। कारकं किम् ? माणवकस्य पितरं पंथानं पृच्छति।

इन धातुओं अर्थात् दुह् याच् आदि के समान अर्थ वाली अन्य धातुओं के योग में भी जिनकी अपादान आदि द्वारा विशेष विवक्षा न हो, उसकी कर्म संज्ञा होगी। यह कर्म संज्ञा का विधान धातुओं के अर्थ के ऊपर आधारित है। ऐसा नहीं कि केवल इन १६ गिनायी गयी धातुओं तक ही सीमित हो।

उदाहरण—बलिं भिक्षते वसुधाम् (बलि से पृथ्वी माँगता है) इस वाक्य में 'याच्' के स्थान पर समानार्थक 'भिक्ष्' धातु का प्रयोग होने से द्वितीया विभक्ति हुई है। 'माणवकं धर्म भाषते अभिधत्ते वक्ति वा' (बालक के लिए धर्म कहता है) यहाँ 'ब्रू' धातु की पर्यायवाची धातु भाष्, अभि धा तथा वच् का प्रयोग है, अतः सम्प्रदान का विशेष अविवक्षा होने से 'माणवकं' की कर्म संज्ञा होकर उसमें द्वितीया विभक्ति हुई है।

इसी प्रकार उपर्युक्त धातुओं की पर्यायवाची धातुओं के योग में द्वितीया विभक्ति होती है।

कारकं किमिति—कारक क्यों कहा गया है?वह इसलिए कि अपादान आदि कारको की अविवक्षा में ही उनकी कर्म संज्ञा होगी। संबन्ध की नहीं।

जैसे—माणवकस्य पितरं पन्थानं पृच्छति (बालक के पिता से मार्ग पूछता है) में पूछना क्रिया का सम्बन्ध 'पिता' से है, 'माणवक' से नहीं। अतः 'माणवक' कारक नहीं है। अतः यहाँ कर्मसंज्ञा नहीं हुई।

अकर्मकधातुभिर्योगे देशः कालो भावो गन्तव्योऽध्वा च कर्मसंज्ञक इति वाच्यम् (वार्तिक)। कुरून् स्वपिति। मासमास्ते। गोदोमास्ते। क्रोशमास्ते।

अकर्मक धातुओं के योगे में देश (स्थान), काल (समय), भाव या दशा तथा गन्तव्य मार्ग की कर्म संज्ञा होती है।

जैसे—कुरून् स्वपिति (कुरु देश में सोता है) यहाँ 'कुरु' देशवाची शब्द है और 'स्वप्' धातु अकर्मक है। इस वाक्य में अधिकरण की अविवक्षा में प्रस्तुत वार्तिक से 'कुरु' की कर्म संज्ञा होकर 'कर्मणि द्वितीया' से द्वितीया विभक्ति हुई है। अधिकरण की विवक्षा में 'कुरुषु स्वपिति' होगा। यहाँ 'देश' का अर्थ है-ग्रामों का समूह कुरु। 'कुरु' आदि जनपदवाचक शब्दों का प्रयोग बहुवचन में ही होता है।

मासमास्ते (मास भर रहता है) यहाँ 'मास' कालवाची शब्द है और 'अस्' अकर्मक धातु है। अतः प्रस्तुत वार्तिक से कर्मसंज्ञा होकर द्वितीया विभक्ति हुई। अधिकरण की विवक्षा में 'मासे आस्ते' होगा।

गोदोहमास्ते (गाय दूहने की वेला तक रहता है) यहाँ 'गोदोह' शब्द भाववाचक है और 'आस्' अकर्मक धातु है। अतः प्रस्तुत वार्तिक से कर्मसंज्ञा होकर द्वितीया विभक्ति हुई। अधिकरण की विवक्षा में 'गोदोहे आस्ते' होगा।

क्रोशमास्ते (कोश भर में रहता है) यहाँ 'क्रोश' गन्तव्य मार्गवाचक शब्द है और 'आस्' अकर्मक धातु है। अतः प्रस्तुत वार्तिक से कर्मसंज्ञा होकर द्वितीया विभक्ति हुई। अधिकरण की विवक्षा में 'क्रोशे आस्ते' होगा।

९. गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थशब्दकर्माकर्मकाणामणि कर्त्ता स णौ १।४।५२।।

गत्याद्यर्थानां शब्दकर्मणामकर्मकाणांच अणौ यः कर्त्ता स णौ कर्म स्यात्।

शत्रूनगमयत् स्वर्ग, वेदार्थ स्वानवेदयत्।
आशयच्चामृतं देवान् वेदमध्यापयद् विधिम्।।
आसयत् सलिले पृथ्वीं यः स मे श्रीहरिर्गतिः।।

गति अर्थ वाली, बुद्धि अर्थवाली, प्रत्यवसान (भक्षण) अर्थ वाली धातुओं तथा शब्दकर्मक (शब्द ही जिनका कर्म हो उन पठ् आदि) और अकर्मक धातुओं का अण्यन्त अर्थात् साधारण अवस्था का कर्त्ता, ण्यन्त अर्थात् प्रेरणार्थक दशा में कर्म हो जाता है।

किसी धातु की साधारण दशा वह होती है, जहाँ कर्त्ता का अपनी इच्छा से कार्य करना प्रकट होता है। प्रेरणार्थक वह दशा होती है जब कर्त्ता से कोई अन्य व्यक्ति कार्य करवाता है अर्थात् उसे कार्य करने की प्रेरणा देता है। (धातुओं को प्रेरणार्थक बनाने लिए धातु से णिच् प्रत्यय जोड़ते हैं।)

उदाहरण— गच्छति। यह क्रिया साधारण रूप है। (अणिजन्त)
गमयति। यह क्रिया प्रेरणार्थक रूप है। (णिजन्त)

शत्रूनगमयत् स्वर्गम् (शत्रुओं को स्वर्ग भेज दिया) में 'अगमयत्' प्रेरणार्थक क्रिया है और वह 'गम्' धातु गति अर्थ वाली है। इसका रूप साधारण दशा अर्थात् अणिजन्त (अप्रेरणार्थक) में 'शत्रवः स्वर्गम् अगच्छन्' होगा। किन्तु इससे जब णिजन्त अर्थात् प्रेरणार्थक बना तो कर्त्ता (शत्रवः) को कर्म (शत्रून्) हो गया।

वेदार्थं स्वान् अवेदयत् (स्वजनों को वेद का अर्थ समझाया) में 'अवेदयत्' प्रेरणार्थक क्रिया है और वह 'विद्' धातु ज्ञान(बुद्धि) अर्थ वाली है। इसका रूप साधारण दशा अर्थात् अणिजन्त (अप्रेरणार्थक) में 'स्वे वेदार्थमविदुः' होगा। किन्तु इससे जब णिजन्त अर्थात् प्रेरणार्थक बना तो कर्त्ता (स्वे) को कर्म (स्वान्) हो गया।

आशयत् च अमृतं देवान् (देवताओं को अमृत पिलाया) में 'आशयत्' प्रेरणार्थक क्रिया है और वह 'अश्' धातु भक्षण अर्थ वाली है। इसका रूप साधारण दशा अर्थात् अणिजन्त (अप्रेरणार्थक) में 'देवाः अमृतम् आश्नन्' होगा। किन्तु इससे जब णिजन्त अर्थात् प्रेरणार्थक बना तो कर्त्ता (देवाः) को कर्म (देवान्) हो गया।

वेदम् अध्यापयत् विधिम् (ब्रह्मा को वेद पढ़ाया) में 'अध्यापयत्' प्रेरणार्थक क्रिया है और वह 'इङ्' धातु पढ़ना अर्थ वाली है। इसका रूप साधारण दशा अर्थात्

अणिजन्त(अप्रेरणार्थक) में 'विधिः वेदमध्यैत' होगा। किन्तु इससे ज : णिजन्त अर्थात् प्रेरणार्थक बना तो कर्त्ता (विधिः) को कर्म (विधिम्) हो गया।

आसयत् सलिले पृथ्वीम् (पृथ्वी को जल में रख दिया) में 'आसयत्' प्रेरणार्थक क्रिया है और वह 'आस्' धातु बैठना अर्थ वाली है। इसका रूप साधारण दशा अर्थात् अणिजन्त (अप्रेरणार्थक) में 'सलिले पृथ्वी आस्त' होगा। किन्तु इससे जब णिजन्त अर्थात् प्रेरणार्थक बना तो कर्त्ता (पृथ्वी) को कर्म (पृथ्वीम्) हो गया।

वृत्ति में प्रयुक्त श्लोक का अर्थ है– जिस श्री हरि ने शत्रुओं को स्वर्ग पहुँचाया, स्वजनों को वेद का ज्ञान कराया, देवों को अमृत खिलाया, ब्रह्मा को वेद पढ़ाया और पृथ्वी को जल में स्थापित किया वह हरि मेरी गति है।

गतीत्यादि किम्? पाचयत्योदनं देवदत्तेन।

गति (चलना) अर्थ वाली धातुओं की अप्रेरणार्थक(अणिजन्त) अवस्था के कर्त्ता को प्रेरणार्थक (णिजन्त) अवस्था में कर्मसंज्ञा होती है, ऐसा क्यों कहा गया ? क्योंकि इनसे भिन्न धातुओं का प्रेरणार्थक प्रयोग करने पर कर्मसंज्ञा नहीं होती।

जैसे–देवदत्तेन ओदनं पाचयति (देवदत्त से भात पकवाता है) में 'पच्' धातु का णिजन्त में प्रयोग हुआ है। यहाँ 'पच्' धातु गत्यर्थक, ज्ञानार्थक, भोजनार्थक, शब्दकर्मक, अकर्मक कुछ भी नहीं है। इसलिए 'देवदत्त' की कर्म संज्ञा नहीं होगी, बल्कि साधारण दशा का कर्त्ता (देवदत्त) प्रेरणार्थक में कर्त्ता ही रहता है और अनुक्त कर्त्ता होने से कर्तृकरणयोस्तृतीया से करण कारक तृतीया विभक्ति हुई है।

अण्यान्तानां किम् ? गमयति देवदत्तो यज्ञदत्तम्, तमपरः प्रयुङ्क्ते गमयति देवदत्तेन यज्ञदत्तं विष्णुमित्रः।

अप्रेरणार्थक(अण्यन्त) अवस्था के कर्त्ता की ही प्रेरणार्थक(ण्यन्त) में कर्म हो, ऐसा क्यों कहा गया ? ऐसा इसलिए कि प्रेरणार्थक अवस्था के कर्त्ता को यदि कोई अन्य प्रेरित करे तो उसकी कर्म संज्ञा नहीं होती है।

जैसे–गमयति देवदत्तो यज्ञदत्तम् (देवदत्त यज्ञदत्त को भेजता है) में 'गमयति' प्रेरणार्थक क्रिया है, इसका कर्त्ता है 'देवदत्तः'। यदि कोई दूसरा व्यक्ति देवदत्त को भेजने की प्रेरणा दे तो वाक्य होगा–गमयति देवदत्तेन यज्ञदत्तं विष्णुमित्रः (विष्णुमित्र देवदत्त के द्वारा यज्ञदत्त को भिजवाता है) और प्रेरणार्थक का कर्त्ता देवदत्त करण कारक में रखा जायगा। कर्म में नहीं होगा। अतः अप्रेरणार्थक क्रियाओं से प्रेरणार्थक बनाते समय उपरोक्त क्रियाओं के कर्त्ता को कर्म होगा, प्रेरणार्थक क्रियाओं से नहीं।

नीवह्योर्न (वार्तिक) नाययति वाहयति वा भारं भृत्येन।

नी, वह् (ले जाना) क्रियाओं के अप्रेरणार्थक के कर्त्ता को प्रेरणार्थक अवस्था में कर्म नहीं होता, बल्कि करण कारक होता है।

जैसे–नाययति वाहयति वा भारं भृत्येन (भृत्य से भार पहुँचवाता है) भृत्यः भारं नयति वहति वा इस वाक्य का प्रेरणार्थक रूप है। नी, वह् दोनों गत्यर्थक क्रियायें हैं।

गत्यर्थक होने से गति 'बुद्धिप्रत्यवसानार्थ०' सूत्र से कर्त्ता (भृत्येन) को प्रेरणार्थक अर्थ में कर्म होना चाहिये था लेकिन उक्त वार्तिक से निषेध होकर कर्तृकरणयोस्तृतीया से भृत्येन हुआ।

नियन्तृकर्तृकस्य वहेरनिषेधः (वार्तिक)। वाहयति रथं वाहान् सूतः।

नियन्तृ कर्तृक 'वह्' धातु का निषेध न हो। अर्थात् 'नीवह्योर्न' इस वार्तिक से किया गया कर्म संज्ञा का निषेध नहीं होता, यदि 'वह्' धातु का कर्त्ता प्रेरणार्थक में नियन्तृ (हाँकने वाला) हो। सामान्य नियम तो यह है कि अण्यन्त(अप्रेरणार्थक) अवस्था के कर्त्ता को प्रेरणार्थक अवस्था में कर्म संज्ञा होती है।

जैसे—**अण्यन्त अवस्था में**—वाहाः रथं वहन्ति तान् नियन्ता (सारथि) **प्रेरणार्थक अवस्था** में—वाहयति रथं वाहान् सूतः (सारथि अश्वों से रथ खिंचवाता है) में प्रेरणार्थक क्रिया के साथ नियन्तृकर्तृक सारथि कर्त्ता है अतः पूर्व नियम के अनुसार वाहान् में कर्म ही होगा करण नहीं।

आदिखाद्योर्न (वार्तिक) आदयति, खादयति वा अन्नं बटुना।

अद् तथा खाद् (खाना) धातुओं के अण्यन्त अवस्था के कर्त्ता की ण्यन्त अवस्था में कर्म संज्ञा नहीं होगी।

जैसे—आदयति खादयति वा अन्नं बटुना (बालक को अन्न खिलाता है) बटुः अन्नं अत्ति खादति वा (बालक अन्न खाता है) से प्रेरणार्थक हुआ है। ये दोनों धातुयें भक्षाणार्थक हैं। अतः 'गतिबुद्धि०' सूत्र से अण्यन्त अवस्था के कर्त्ता को प्रेरणार्थक में कर्म संज्ञा प्राप्त है, किन्तु उक्त वार्तिक से निषेध होकर तृतीया विभक्ति हुई।

भक्षेरहिंसार्थस्य न (वार्तिक)

भक्षयत्यन्नं बटुना। अहिंसार्थस्य किम्? भक्षयति बलिवर्दान् शस्यम्।

अहिंसार्थक 'भक्ष्' धातु के प्रयोज्य कर्त्ता की कर्म संज्ञा नहीं होती है। अर्थात् जब 'भक्ष्' धातु का अर्थ हिंसा (पीड़ा देना या हानि पहुँचाना) नहीं होता है तो उसके कर्त्ता की प्रेरणार्थक में कर्म संज्ञा होती है।

जैसे—भक्षयति अन्नं वटुना (बालक को अन्न खिलाता है) में 'भक्ष्' धातु का अर्थ हिंसा नहीं है। अतः 'वटु' की कर्म संज्ञा नहीं हुई। अतः उक्त वार्तिक से कर्मसंज्ञा का निषेध होकर तृतीया विभक्ति में 'वटुना' बना है। अप्रेरणार्थक अवस्था में इसका रूप है 'वटुः अन्नं भक्षति'।

अहिंसार्थस्य किमिति—जहाँ 'भक्ष्' धातु के भाव से हिंसा प्रकट होती है वहाँ प्रेरणार्थक प्रयोग होने पर प्रयोज्य कर्त्ता की कर्म संज्ञा होती है।

जैसे—भक्षयति बलीवर्दान् शस्यम् (बैलों से फसल खिलाकर हानि पहुँचाता है) में 'भक्ष्' धातु हिंसा (हानि पहुँचाना) के अर्थ में है। अतः यहाँ 'बलावर्दान्' में कर्म कारक ही हुआ है।

जल्पतिप्रभृतीनामुपसंख्यानम् (वार्तिक) जल्पयति भाषयति वा धर्मं पुत्रं देवदत्तः।

जल्प् (बोलना) आदि अणिजन्त अवस्था के कर्त्ता की णिजन्त दशा में कर्म संज्ञा हो जाती है।

जैसे—जल्पयति भाषयति वा धर्मं पुत्रं देवदत्तः (देवदत्त पुत्र को धर्म सिखाता है) में 'जल्प्' आदि का णिजन्त प्रयोग होने पर प्रयोज्य कर्त्ता 'पुत्र' की कर्म संज्ञा होकर द्वितीया विभक्ति हुई। अणिजन्त अवस्था में इसका रूप होगा—पुत्रः धर्मं जल्पति भाषति वा।

दृशेश्च (वार्तिक)

दर्शयति हरिं भक्तान्। सूत्रज्ञानसामान्यार्थानामेव ग्रहणं तु तद्विशेषार्थानाम् इत्यनेन ज्ञाप्यते। तेन स्मरति जिघ्रति इत्यादीनां न। स्मारयति घ्रापयति वा देवदत्तेन।

दृश् (देखना) धातु की भी अणिजन्त अवस्था के कर्त्ता की णिजन्त अवस्था में कर्म संज्ञा हो जाती है।

जैसे—दर्शयति हरिं भक्तान् (भक्तों को हरि के दर्शन कराता है) में 'दर्शयति' यह क्रियापद 'दृश्' धातु के णिजन्त का रूप है। अतः अणिजन्त अवस्था के कर्त्ता 'भक्त' की णिजन्त में उक्त नियम से कर्मसंज्ञा होकर द्वितीया विभक्ति में 'भक्तान्' बना है। इसका रूप अणिजन्त अवस्था में 'भक्ताः हरिं पश्यन्ति' होगा

सूत्रे ज्ञानसामान्यार्थानामिति—सूत्र में बुद्धि के सामान्य अर्थ को ही समझना चाहिये विशेष अर्थ में नहीं अर्थात् देखना, सूँघना, स्मरण करना आदि विशेष प्रकार के ज्ञान का अर्थ नहीं लेना चाहिये, सामान्य प्रकार का ज्ञान ही समझना चाहिये। दृश् (देखना) विशेष प्रकार का ज्ञान है अतः 'गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थ०' सूत्र में 'बुद्धि' अर्थ की धातु का उल्लेख होन पर भी चूँकि वहाँ वह सामान्य प्रकार के ज्ञान का ही अर्थ है। इसलिए विशेष प्रकार के ज्ञान देखना के लिए 'दृशेश्च' सूत्र की आवश्यकता हुई। फलतः ज्ञान विशेष अर्थ वाले स्मृ (स्मरण) और घ्रा (सूँघना) धातुओं में इस सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती है अर्थात् इसके प्रयोज्य कर्त्ता की कर्म संज्ञा नहीं होगी।

जैसे—स्मारयति घ्रापयति वा देवदत्तेन (देवदत्त को याद करवाता या सूँघता है) में स्मारयति और घ्रापयति विशेष प्रकार के ज्ञान हैं। अतः देवदत्त में कर्म नहीं हुआ है बल्कि तृतीया में 'देवदत्तेन' हुआ है।

शब्दायतेर्न (वार्तिक)

शब्दाययति देवदत्तेन। धात्वर्थसंग्रहीतकर्मत्वेन अकर्मकत्वात् प्राप्तिः।

शब्दाय धातु की अण्यन्त अवस्था के कर्त्ता की ण्यन्त अवस्था में कर्मसंज्ञा नहीं होती।

जैसे—शब्दाययति देवदत्तेन (देवदत्त से शब्द कराता है) यहाँ धातु के अर्थ में शब्दरूपी कर्म संग्रहीत होने से 'शब्दाय्' धातु अकर्मक है। अकर्मक होने के कारण 'गतिबुद्धि०' सूत्र से कर्त्ता को प्रेरणार्थक अवस्था में कर्म संज्ञा होनी थी; किन्तु इस वार्तिक से निषेध होकर तृतीया विभक्ति में 'देवदत्तेन' हुआ। इसका रूप अण्यन्त अवस्था में 'देवदत्तः शब्दायते' होगा।

येषां देशकालादिभिन्नं कर्म न संभवति तेऽत्राकर्मकाः। न त्वविवक्षितकर्माणोऽपि। तेन 'मासमासयति देवदत्त' इत्यादौ कर्मत्वं भवति, 'देवदत्तेन पाचयति' इत्यादौ तु न।

'गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थ' सूत्र में अकर्मक धातुयें वे हैं जिनका देश, काल आदि से भिन्न कर्म सम्भव नहीं है तथा जो धातुयें कर्म की अविवक्षा होने के कारण अकर्मक हो जा जाती हैं और उनका यहाँ ग्रहण नहीं होता।

जैसे—मासमासयति देवदत्तम् (देवदत्त को महीने भर तक ठहराता है) में 'मासम्' काल वाचक है कर्म है, 'आसयति' अकर्मक क्रिया है, अतः 'देवदत्त' में प्रेरणार्थक अवस्था में 'गतिबुद्धि०' सूत्र से कर्मसंज्ञा हुई।

किन्तु 'देवदत्तेन पाचयति'(देवदत्त से पकवाता है) में 'देवदत्त' में कर्म नहीं हुआ है करण हुआ है, क्योंकि वहाँ धातु का कर्म विवक्षित नहीं है और 'पच्' धातु का 'ओदन' रूप कर्म देश, कालादि से भिन्न है। अतः देवदत्त की कर्म संज्ञा नहीं हुई बल्कि 'देवदत्त' में तृतीया हुई है।

१०. हृक्रोरन्यतरस्याम् १।४।५३।।

हृक्रोः अणौ यः कर्त्ता स णौ वा कर्मसंज्ञः स्यात्। हारयति कारयति वा भृत्यं भृत्येन वा कटम्।

हृ (ले जाना) कृ (करना) धातुओं के अप्रेरणार्थक(अण्यन्त) अवस्था का जो कर्त्ता होता है, उसकी प्रेरणार्थक(ण्यन्त) अवस्था में विकल्प से कर्मसंज्ञा होती है। अर्थात् कर्म भी हो सकता है और करण भी।

जैसे—**अण्यन्त अवस्था में**—भृत्यः कटं हरति करोति वा (भृत्य चटाई ले जाता है या बनाता है) का

ण्यन्त अवस्था में—१. हारयति भृत्यं भृत्येन वा कटम् (भृत्य से चटाई ढुलवाता है)

२. कारयति भृत्यं भृत्येन वा कटम् (भृत्य से चटाई बनवाता है)

प्रथम वाक्य अप्रेरणार्थक से प्रेरणार्थक बनाने पर (भृत्य भृत्येन वा) द्वितीया विभक्ति तथा प्रेरणार्थक न बनाने पर तृतीया विभक्ति हुई।

अभिवादिदृशोरात्मनेपदे वेति वाच्यम् (वार्तिक)

अभिवादयते दर्शयते देवं भक्तं भक्तेन वा।

अभि उपसर्ग पूर्वक 'वद्' धातु तथा दृश् धातु का साधारण अवस्था (अप्रेरणार्थक) का कर्त्ता, ण्यन्त (प्रेरणार्थक) के आत्मनेपद में रूप बनाने पर इनके कर्त्ता की विकल्प से कर्म संज्ञा होती है।

जैसे—**अण्यन्त अवस्था में**—अभिवदति देवं भवन्तः (देव को भक्त प्रणाम करता है)

ण्यन्त अवस्था में—अभिवादयते देवं भक्तं भक्तेन वा (भक्त से देव को प्रणाम करवाता है)

अभिवदति (अप्रेरणार्थक) के कर्त्ता भक्त को प्रेरणार्थक आत्मनेपद क्रिया (अभिवादय) के साथ कर्म कारक (भक्तम्) हुआ अथवा अनुक्त होने से कर्त्ता में तृतीया विभक्ति (भक्तेन) होगा।

११. अधिशीङ्स्थासां कर्म १।४।४६।।

अधिपूर्वाणामेषामाधारः कर्म स्यात्। अधिशेते, अधितिष्ठति, अध्यास्ते वा वैकुण्ठं हरिः।

अधि उपसर्ग पूर्वक शीङ् (सोना), स्था (ठहरना), आस् (बैठना) धातुओं के आधार की कर्म संज्ञा होती है।

जैसे—अधिशेते वैकुण्ठं हरिः (हरि वैकुण्ठ में सोते हैं)

अधितिष्ठति वैकुण्ठं हरिः (हरि वैकुण्ठ में रहते हैं)

अध्यास्ते वैकुण्ठं हरिः (हरि वैकुण्ठ में हैं)

इन तीनों उदाहरणों में क्रमशः अधि उपसर्ग पूर्वक शीङ्, स्था तथा आस् धातु का प्रयोग है और 'वैकुण्ठ' क्रिया का आधार है। अतः 'वैकुण्ठं' क्रिया के आधार की कर्म संज्ञा होकर द्वितीया विभक्ति हुई है।

१२. अभिनिविशश्च १।४।४७।।

'अभिनि' इत्येतत्सङ्घातपूर्वस्य विशतेराधारः कर्म स्यात्। अभिनिविशते सन्मार्गम्।

'अभि' तथा 'नि' उपसर्ग जब एक साथ 'विश्' धातु के पहले आते हैं तो 'विश्' धातु का आधार कर्म संज्ञक होता है। अभिनिविश = प्रवेश करना।

जैसे—अभिनिविशते सन्मार्गम् (सन्मार्ग में मन लगाता है) में क्रिया का आधार सन्मार्ग है। आधार में सप्तमी होनी चाहिए थी, परन्तु 'अभि' तथा 'नि' उपसर्गपूर्वक 'विश्' धातु का आधार होने से 'सन्मार्गम्' में कर्मकारक और द्वितीया विभक्ति हुई।

परिक्रयणे सम्प्रदान' १।४।४४।। इति सूत्रादिह मण्डूकप्लुत्या अन्यतरस्यां ग्रहणमनुवर्त्य व्यवस्थितविभाषाश्रयणात् क्वचिन्न, पापेऽभिनिवेशः।

अभि, नि, उपसर्ग पूर्वक 'विश्' धातु के आधार की कर्म संज्ञा होकर द्वितीया होती है, किन्तु 'पापेऽभिनिवेशः' में 'परिक्रयणे सम्प्रदानमन्यतरस्याम्' सूत्र से 'मण्डूकप्लुति' (मेंढक के समान कूदकर) विकल्प से कहीं-कहीं आधार में अभि + नि + विश् धातु के होने पर भी कर्मकारक नहीं होता है, अधिकरण ही होता है।

जैसे—पापेऽभिनिवेशः (पाप में मन की प्रवृत्ति) में 'अभि + नि + विश्' धातु का आधार 'पाप' है। अतः 'पाप' की कर्म संज्ञा होनी चाहिए, किन्तु उक्त वार्तिक से पाप की कर्म संज्ञा न होकर अधिकरण कारक सप्तमी विभक्ति हुई है।

१३. उपान्वध्याङ्वसः १।४।४८।।

उपादिपूर्वस्य वसतेराधारः कर्म स्यात्। उपवसति, अनुवसति, अधिवसति, आवसति वा वैकुण्ठं हरिः।

यदि 'वस्' धातु के पहले उप, अनु, अधि, आ में से कोई उपसर्ग लगा हो तो क्रिया का आधार कर्म होता है।

जैसे— उपवसति वैकुण्ठं हरिः (हरि वैकुण्ठ में रहते हैं)

अनुवसति वैकुण्ठं हरिः (हरि वैकुण्ठ में रहते हैं)

अधिवसति वैकुण्ठं हरिः (हरि वैकुण्ठ में रहते हैं)

आवसति वैकुण्ठं हरिः (हरि वैकुण्ठ में रहते हैं)

इन सब वाक्यों में 'वस्' धातु के पहले उप आदि उपसर्ग होने से क्रिया के आधार 'वैकुण्ठ' में कर्म कारक द्वितीया विभक्ति हुई।

किन्तु वसति वैकुण्ठे हरिः (हरि वैकुण्ठ में रहते हैं) में 'वस्' धातु के पहले उप आदि में से कोई भी नहीं है। अतः वैकुण्ठे में कर्म न होकर अधिकरण कारक सप्तमी विभक्ति हुई।

अभुक्त्यर्थस्य न (वार्तिक)। वने उपवसति।

जब 'उपवस्' का अर्थ उपवास करना, न खाना होता है, तब 'उपवस्' का आधार कर्म नहीं होता, अधिकरण ही रहता है।

जैसे—वने उपवसति (वन में उपवास करता है) में 'उपवस्' उपवास करने (न खाने) के अर्थ में है। अतः इसके आधार 'वने' में द्वितीया विभक्ति न होकर सप्तमी विभक्ति हुई।

उपपद-द्वितीया विभक्ति

उभसर्वतसोः कार्याधिगुपर्यादिषु त्रिषु।।

द्वितीयाऽऽम्रेडितान्तेषु ततोऽन्यत्रापि दृश्यते।। (वार्तिक)

उभयतः कृष्णं गोपाः। सर्वतः कृष्णम्। धिक् कृष्णाभक्तम्। उपर्युपरि लोकं हरिः। अध्यधि लोकम्। अधोऽधः लोकम्।

तस् प्रत्ययान्त उभ, सर्व शब्द अर्थात् उभयतः, सर्वतः, धिक्, आम्रेडितान्त शब्दों अर्थात् द्विरुक्ति और उपर्युपरि, अध्यधि, अधोऽधः शब्दों तथा इनसे भिन्न दूसरे शब्दों के योग में भी द्वितीया विभक्ति होती है। (द्विरुक्ति को आम्रेडित कहते हैं।)

जैसे—उभयतः कृष्णं गोपाः। (कृष्ण के दोनों ओर ग्वाले हैं) में तसिल् प्रत्ययान्त उभयतः शब्द का कृष्ण से योग होने के कारण कृष्ण में द्वितीया विभक्ति हुई।

इसी प्रकार सर्वतः कृष्णम् (कृष्ण के सभी ओर) में द्वितीया होगी।

धिक् कृष्णाभक्तम् (कृष्ण के भक्त न होने वाले को धिक्कार है) में धिक् के योग कृष्णाभक्तम में द्वितीया हुई है।

उपर्युपरि लोकं हरिः (हरि लोक के ठीक ऊपर हैं)

अध्यधि लोकम् (लोक के ठीक ऊपर)

अधोऽधः लोकम् (लोक के ठीक नीचे)

इन वाक्यों में आम्रेडितान्त शब्दों (द्विरुक्ति) उपरि-उपरि, अधि-अधि और अधः-अधः के योग में लोक में द्वितीया विभक्ति हुई है।

अभितः परितः समयानिकषाहाप्रतियोगेऽपि। (वार्तिक)

अभितः कृष्णम्। परितः कृष्णम्। ग्रामं समया। निकषा लङ्काम्। हा कृष्णाभक्तम्। तस्य शोच्यते इत्यर्थः। बुभुक्षितं न प्रतिभाति किंचित्।

अभितः (दोनों ओर), परितः (सब ओर), समया (निकट), निकषा (समीप), हा (हाय, शोक अर्थ में), प्रति (ओर, तरफ) शब्दों के योग में द्वितीया विभक्ति होती है।

जैसे— अभितः कृष्णम् (कृष्ण के दोनों ओर)

परितः कृष्णम् (कृष्ण के सब ओर)

इन दोनों उपर्युक्त उदाहरणों में 'अभितः' और 'परितः' का योग होने के कारण 'कृष्णम्' में द्वितीया विभक्ति हुई है। (अभि और परि शब्दों से 'पर्यभिभ्यां तसिल्' सूत्र से 'तसिल्' प्रत्यय लगकर अभितः और परितः अव्यय बनते हैं।)

ग्रामं समया (ग्राम के निकट)

लङ्कां निकषा (लंका के निकट)

उपर्युक्त दोनों उदाहरणों में समीप अर्थ वाले 'समया' और 'निकषा' अव्ययों का योग 'ग्राम' और 'लंका' से हुआ है। अतः 'ग्रामम्' और 'लंकाम्' में द्वितीया विभक्ति हुई है।

हा कृष्णाभक्तम् (हाय कृष्ण का अभक्त) में शोक और विषाद के द्योतक 'हा' के योग में 'कृष्णाभक्तम्' द्वितीया हुई है।

बुभुक्षितं न प्रतिभाति किञ्चित् (भूखे को कुछ भी नहीं सूझता) में 'प्रति' के योग 'बुभुक्षित' में द्वितीया हुई है।

१४. अन्तराऽन्तरेण युक्ते २।३।४।।

आभ्यां योगे द्वितीया स्यात्। अन्तरा त्वां मां हरिः। अन्तरेण हरिं न सुखम्।

अन्तरा (बीच में), अन्तरेण (बिना, विषय में, छोड़कर) के योग में द्वितीया विभक्ति होती है।

जैसे—अन्तरा त्वां मां हरिः (तुम्हारे और हमारे बीच में हरि हैं) में 'अन्तरा' के योग में 'त्वां' और 'मां' शब्दों में द्वितीया विभक्ति हुई है।

अन्तरेण हरिं न सुखम् (हरि के बिना सुख नहीं) में 'अन्तरेण' के योग में 'हरि' में द्वितीया विभक्ति हुई है।

१५. कर्मप्रवचनीयाः १।४।८३।। इत्यधिकृत्य।

यह अधिकार सूत्र है। कर्म प्रवचनीया में इसका अधिकार जनना चाहिये। (पाणिनी व्याकरण में आगे आने वाले 'विभाषा कृञि' १.४.९८ तक के सूत्रों में 'कर्मप्रवचनीयाः' का अधिकार है।)

कर्मप्रवचनीय उन पदों को कहा जाता है जो न तो विशेष क्रिया के द्योतक हैं, न षष्ठी के सम्बन्ध को बताते हैं और न किसी क्रिया पद की अपेक्षा करते हैं। केवल सम्बन्ध की विशेषता प्रकट करते हैं।

क्रियाया द्योतको नायं सम्बन्धस्य न वाचकः।

नापि क्रियापदापेक्षी सम्बन्धस्य तु भेदकः।। (वाक्यपदीय)

कर्मप्रवचनीय उपसर्ग और गति से भिन्न होते हैं।

पाणिनी व्याकरण में कुछ उपसर्गों (अव्यय) की विशेष स्थलों पर कर्मप्रवचनीय संज्ञा की गयी है। यह अन्वर्थक संज्ञा है। कर्मप्रवचनीय शब्द में कर्म शब्द क्रिया अर्थ का वाचक है। 'कर्म क्रिया प्रोक्तवन्तः' इति अर्थात् जो पहले क्रिया को कह चुके हैं, वे कर्मप्रवचनीय कहलाते हैं।

'ये अप्रयुज्यमानस्य क्रियामाहुस्ते कर्मप्रवचनीयाः' अर्थात् जो अप्रयुक्त धातु की क्रिया को कहते हैं, वे कर्मप्रवचनीय हैं।

जैसे—जपमनु प्रावर्षत् में 'अनु' किसी विशेष क्रिया का बोध नहीं कराता। षष्ठी के समान किसी सम्बन्ध विशेष को भी नहीं बताता। किसी दूसरी क्रिया का अक्षेपित सम्बन्ध नहीं; किन्तु इससे जपसम्बन्धी वर्षण प्रकट होता है अतः यह विशेष सम्बन्ध का भेदक है।

१६. अनुर्लक्षणे १।४।८४।।

लक्षणे द्योत्येऽनुरुक्तसंज्ञः स्यात्। गत्युपसर्गसंज्ञापवादः।

किसी लक्षण को बताने के अर्थ में 'अनु' की कर्मप्रचवनीय संज्ञा होती है। जब किसी विशेष हेतु को बताना हो तो 'अनु' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है। जिससे कोई बात जानी जाती है उसे लक्षण (सूचक) कहते हैं। 'लक्ष्यते ज्ञायतेऽनेनेति लक्षणम्'। यह 'अनु' न तो गतिसंज्ञा है और न उपसर्ग संज्ञा।

जैसे—जपम् अनु प्रावर्षत् (जप के बाद वर्षा हुई) में 'जप' लक्षण है, 'वर्षा' लक्ष्य है। 'अनु' लक्ष्यलक्षण के सम्बन्ध को बताता है। अतः 'अनु' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा हुई और 'कर्मप्रवचनोययुक्ते द्वितीया' (२.३.८) से 'जप' में द्वितीया विभक्ति हुई है।

१७. कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया २।३।८।।

एतेन योगे द्वितीया स्यात्। पर्जन्यो जपमनु प्रावर्षत्। हेतुभूतजपोपलक्षितं वर्षणमित्यर्थः। परापि हेताविति तृतीयाऽनेन बाध्यते। लक्षणेत्थंभूतेत्यादिना सिद्धे पुनः संज्ञाविधानसामर्थ्यात्।

कर्मप्रवचनीय शब्दों के योग में द्वितीया होती है।

जैसे—पर्जन्यो जपमनु प्रावर्षत् (जप के कारण प्रचुर वर्षा हुई) में हेतु रूप 'जप' करने के पश्चात् 'वर्षा' हुई, यहाँ 'जप' हेतु है, उससे 'वर्षण' लक्षित है, 'जप' लक्षण

है, 'वर्षा' लक्ष्य है। 'जप' 'वर्षा' का हेतु है। यहाँ 'अनु' उस हेतु का द्योतक है। अतः 'अनुर्लक्षणे' सूत्र से 'अनु' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होकर 'जप' में द्वितीया विभक्ति हुई है।

'हेतौ' (२.३.२३) सूत्र से हेतु के अर्थ में तृतीया होनी चाहिये परन्तु इस सूत्र के कारण तृतीया का निषेध हो गया। 'लक्षणेत्थंभूताख्यानभागवीप्सासु प्रतिपर्यनवः'(१.४.९०) सूत्र से 'अनु' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा हुई है। तो फिर 'अनुलक्षणे' सूत्र में दुबारा कहने की क्या आवश्यकता थी ? इसका उत्तर है कि 'अनुर्लक्षणेत्थंभूता से 'अनु' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने पर भी 'हेतौ' से तृतीया हो जायगी परन्तु इस सूत्र से पुनः द्वितीया का विधान किया गया है, जिससे तृतीया बाधित हो जाती है।

१८. तृतीयार्थे १।४।८५।।

अस्मिन्द्योत्येऽनुरुक्तसंज्ञः स्यात्। नदीन्वसिता सेना। नद्या सह सम्ब) त्यर्थः। षिञ् बन्धने क्तः।

जब 'अनु' तृतीया के अर्थ अर्थात् सहभाव को प्रकट करता है, तो उसकी कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है। जैसे—

नदीमन्ववसिता सेना (सेना नदी के साथ सम्बद्ध) है) में 'अनु' तृतीया के अर्थ में है अतः कर्मप्रवचनीय है, इस कारण 'अनु' कर्मप्रवचनीय द्वारा लक्षित 'नदी' में द्वितीया विभक्ति हुई है। यहाँ सहभाव द्योतित है। नदी के साथ सेना सम्बद्ध) है। 'अवसिता' में षिञ् धातु का बन्धन अर्थ है, उससे 'क्त' प्रत्यय हुआ। 'अव' उपसर्ग से 'सम्बद्ध होना' अर्थ प्रकट है।

१९. हीने १।४।८६।।

हीने द्योत्येऽनुः प्राग्वत्। अनु हरिं सुराः। हरेर्हीना इत्यर्थः।

'अनु' से जब 'हीन' अर्थात् 'न्यून' अर्थ द्योतित हो तो 'अनु' कर्मप्रवचनीय होता है और उसके योग में द्वितीया विभक्ति होती है। जैसे—

अनु हरिं सुराः (देवता हरि से नीचे हैं) में 'अनु' से हीन अर्थ द्योतित है, अतः 'अनु' की कर्मप्रवचनीय संज्ञ होकर 'हरि' में द्वितीया हुई है।

२०. उपोऽधिके च १।४।८७।।

अधिके हीने च द्योत्ये उपेत्यव्ययं प्राक्सज्ञं स्यात्। अधिके सप्तमी वक्ष्यते। हीने-उप हरिं सुराः।

अधिक तथा हीन अर्थ द्योतित होन पर 'उप' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है। किन्तु जब उप 'अधिक' अर्थ का द्योतक होगा तो सप्तमी होगी। और जब उप 'हीन' अर्थ का द्योतक होगा, तो उसमें द्वितीया होगी। जैसे—

उप से 'अधिक' अर्थ में-उप परार्धे हरेर्गुणाः (परार्ध से अधिक ही हरि के गुण होंगे)

उप से 'हीन' अर्थ में-उप हरिं सुराः (देवता हरि से नीचे हैं)

२१. लक्षणेत्थम्भूताख्यानभागवीप्सासु प्रतिपर्यनवः १।४।९०।।

एष्वर्थेषु विषयभूतेषु प्रत्यादय उक्तसंज्ञाः स्युः। लक्षणे-वृक्षं प्रति, परि, अनु वा विद्योतते विद्युत्। इत्थम्भूताख्याने-भक्तो विष्णुं प्रति, परि, अनु वा। भागे-लक्ष्मीः हरिं प्रति परि अनु वा। हरेर्भाग इत्यर्थः। वीप्सायाम्-वृक्षं वृक्षं प्रति, परि, अनु वा सिंचति। अत्र उपसर्गत्वाभावान्न षत्वम्। एषु किम्? परिषिं चति।

लक्षण (किसी ओर अंगुलि-निर्देश करना हो), इत्थंभूताख्यान (ये इस प्रकार के हैं), भाग (यह उनके हिस्से मे पड़ा या पड़ता है) और वीप्सा (किसी क्रिया का प्रत्येक वस्तु से सम्बन्ध करने की इच्छा) हो तो इन अर्थों के द्योतित होने पर प्रति, परि, और अनु की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है और उसमें द्वितीया विभक्ति का विधान करते हैं।

१. **लक्षण**—वृक्षं प्रति परि अनु वा विद्योतते विद्युत् (वृक्ष के ऊपर बिजली चमकती है) में 'वृक्ष' बिजली चमकने को लक्षित करता है। 'वृक्ष' लक्षण है, 'विद्युत्' लक्ष्य है। 'वृक्ष' के दिखायी पड़ने से विद्युत् द्योतित है, अतः प्रति, परि, 'अनु' कर्मप्रवचनीय हैं। इनके योग में द्वितीया विभक्ति हुई।

२. **इत्थम्भूताख्यान**—भक्तो विष्णुं प्रति परि अनु वा (विष्णु के प्रति भक्त है) में 'प्रति' शब्द इत्थंभूत अर्थात् यह विष्णु का भक्त है इस प्रकार का कथन कर रहा है। भक्त भक्तिरूप विशेष प्रकार को प्राप्त करने के कारण इत्थम्भूताख्यान है। अतः प्रति, परि, अनु की कर्मप्रवचनीय संज्ञा और उसके योग में 'विष्णु' में द्वितीया हुई।

३. **भाग**—लक्ष्मीः हरिं प्रति, परि, अनु वा (लक्ष्मी हरि के हिस्से में पड़ी) में 'प्रति' से लक्ष्मी के प्रति हरि का स्वामित्व द्योतित होता है। लक्ष्मी रूप भाग का स्व-स्वामि-भाव सम्बन्ध का कथन है। अतः भाग के अर्थ में प्रति, परि, अनु की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होकर 'हरि' में द्वितीया विभक्ति हुई है।

४. **वीप्सा**—वृक्षं वृक्षं प्रति परि अनु वा सिञ्चति (प्रत्येक वृक्ष को सिंचता है) में वीप्सा का अर्थ—व्यातुमिच्छा अर्थात् किसी क्रिया का प्रत्येक वस्तु से सम्बन्ध करने की इच्छा। अतः व्याप्ति, विस्तार या पुनरुक्ति के अर्थ में प्रति, परि, अनु की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होकर 'वृक्ष' में द्वितीया विभक्ति हुई है।

एषु किमिति—यहाँ लक्षण, इत्थम्भूताख्यान, भाग और वीप्सा अर्थों में ही प्रति, परि और अनु की कर्मप्रवचनीय संज्ञा क्यों कहा है क्योंकि यहाँ प्रति, परि अनु, ये शब्द उपसर्ग नहीं हैं, कर्मप्रवचनीय हैं, इसलिये 'सिञ्चति' के 'स' को 'ष' नहीं हुआ, अन्यथा 'परि' यदि उपसर्ग होता तो 'परिषिञ्चति' बनता। यहाँ कर्मप्रवचनीय संज्ञा का यही प्रयोजन है।

२२. अभिरभागे १।४।९१।।

भागवर्जे लक्षणादावभिरुक्तसञ्ज्ञः स्यात्। हरिमभि वर्तते। भक्तो हरिमभि। देवं देवमभिसिञ्चति। अभागे किम्? यदत्र ममाभिष्यात्तद्दीयताम्।

भाग अर्थ को छोड़कर पूर्व में आये शेष तीन अर्थात् लक्षण, इत्थम्भूताख्यान और वीप्सा इन अर्थों के विषय में 'अभि' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है। जैसे—

लक्षण के अर्थ में—हरिम् अभि वर्तते (हरि की ओर है) में लक्ष्यलक्षण भाव का द्योतक 'अभि' है। 'हरि' लक्षण है तथा 'जयः' जो यहाँ कहा नहीं गया है, लक्ष्य है। अतः 'अभि' कर्मप्रवचनीय हुआ तथा उसके योग में 'हरि' में द्वितीया हुई है।

इत्थम्भूताख्यान के अर्थ में—भक्तो हरिम् अभि (हरि का भक्त) में भक्त का तात्पर्य है हरि-विषयक भक्ति वाला। अतः इत्थम्भूताख्यान अर्थ में कर्मप्रवचनीय संज्ञा होकर उसके योग में 'हरिम्' में द्वितीया विभक्ति हुई है।

वीप्सा के अर्थ में—देवं देवमभिसिञ्चति (सभी देवों पर जल चढ़ाता है) में 'अभि' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने से 'देवं' 'देवम्' में द्वितीया विभक्ति हुई है।

अभागे किमिति—भाग (हिस्सा) अर्थ को छोड़कर ऐसा क्यों कहा गया है? क्योंकि 'यदत्र ममाभिष्यात्तद्दीयताम् (जो यहाँ मेरा भाग है, वह दीजिए) में 'अभि' उपसर्ग है, कर्मप्रवचनीय नहीं। इसी से 'मम' में षष्ठी हुई है, द्वितीया नहीं और 'अभिष्यात्' में स्यात् के 'स' का 'ष' हो गया है।

२३. अधिपरी अनर्थकौ १।४।९३।।

उक्तसञ्ज्ञौस्तः। कुतोऽध्यागच्छति। कुतः पर्यागच्छति। गतिसंज्ञाबाधात् 'गतिर्गतौ' इति निघातो न।

अनर्थक 'अधि' और 'परि' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है। अर्थात् जब 'अधि' और 'परि' किसी विशेष अर्थ को नहीं बताते हैं तो इन्हें कर्मप्रवचनीय कहते हैं। जैसे—

कुतः अधि आगच्छति (वह कहाँ से आता है) या कुतः पर्यागच्छति में 'अधि' और 'परि' कोई विशेष अर्थ नहीं प्रकट करते हैं। इन्हें कर्मप्रवचनीय इसलिए कहते हैं कि जिससे ये उपसर्ग तथा गति से भिन्न समझे जायें।

'अधि' और 'परि' कर्मप्रवचनीय कह देने से 'गतिर्गतौ' सूत्र से 'अधि' और परि को निघात (सर्वानुदात्त) नहीं होगा। जब दो गति संज्ञायें आवें तो प्रथम पर निघात होता है। चूँकि 'अधि' और 'परि' कर्मप्रवचनीय है, अतः 'आ' के साथ होने पर भी निघात (किसी शब्द के सभी स्वर का अनुदात्त हो जाना) नहीं होगा।

२४. सुः पूजायाम् १।४।५४।।

सुसिक्तम्। सुस्तुतम्। अनुपसर्गत्वान्न षः। पूजायां किम् ? सुषिक्तं किं तवाऽत्र। क्षेपोऽयम्।

पूजा (प्रशंसा, आदर) अर्थ में 'सु' शब्द की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है। जैसे—सुसिक्तम् (अच्छी तरह सींचा हुआ) तथा सुस्तुतम् (अच्छी तरह प्रशंसित) में 'सु' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा हुई है। अतः कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने से उपसर्ग संज्ञा नहीं हुई और उपसर्ग संज्ञा न होने के कारण 'सिक्तम्' और 'स्तुतम्' के स् को ष् नहीं हुआ।

पूजायां किम्—पूजा अर्थ में ही 'सु' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है, ऐसा क्यों कहा ? ऐसा इसलिए कि 'सुषिक्तं किं तवाऽत्र' (क्या आपका स्थान अच्छी तरह धोया गया है) में 'सु' का अर्थ प्रशंसा नहीं अपितु 'किं' शब्द के प्रयोग से यहाँ क्षेप (निन्दा)

प्रतीत होता है। अतः 'सु' कर्मप्रवचनीय न होकर 'उपसर्ग' होगा और 'सिक्त' के 'सु' को ष् होगा।

२५. अतिरतिक्रमणे च १।४।९५।।

अतिक्रमणे पूजायां च अतिः कर्मप्रवचनीयसंज्ञः स्यात्। अति देवान् कृष्णः।

अतिक्रमण (उल्लंघन) तथा पूजा अर्थ में 'अति' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है। जैसे—

अति देवान् कृष्णः (कृष्ण देवों से बढ़कर हैं या कृष्ण देवों से अच्छे हैं) में अतिक्रमण और पूजा अर्थ द्योत्य होने से प्रस्तुत सूत्र से 'अति' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा हुई और उसके योग में 'देव' में द्वितीया विभक्ति हुई है।

२६. अपिः पदार्थसम्भावनाऽन्ववसर्गगर्हासमुच्चयेषु १।४।९६।।

एषु द्योत्येष्वपिरुक्तसञ्ज्ञः स्यात्। सिर्पिषोऽपि स्यात्। अनुपसर्गत्वाद् न षः। सम्भावनायां लिङ्। तस्या एव विषयभूते भवने कर्तृदौर्लभ्यं प्रयुक्तं दौर्लभ्यं द्योतयन् अपि शब्दः स्यात् इत्यनेन सम्बध्यते। सर्पिषः इति षष्ठी तु अपि शब्दबलेन गम्यमानस्य विन्दोः अवयवाऽवयविभावसम्बन्धे। इयमेव हि 'अपि' शब्दस्य पदार्थद्योतकता नाम। द्वितीया तु नेह प्रवर्तते। सर्पिषो बिन्दुना योगो न तु अपि ना इत्युक्तत्वात्। अपि स्तुयाद् विष्णुम्-सम्भावनं शक्त्युत्कर्षभाविष्कर्तुम् अत्युक्तिः। अपि स्तुहि-अन्ववसर्गः कर्मचारानुज्ञा। धिग् देवदत्तम्। अपि स्तुयाद वृषलम्-गर्हा। अपि सिञ्च, अपि स्तुहि-समुच्चये।

पदार्थ, सम्भावना, अन्ववसर्ग, गर्हा (निन्दा) तथा समुच्चय अर्थों को द्योतित करने में 'अपि' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है।

१. **पदार्थ**—सर्पिषोऽपि स्यात् (घी की बूँद सम्भवतः हो) में 'अपि' शब्द अप्रयुक्त बिन्दु पद के अर्थ को द्योतित करता है। सर्पिषोऽपि स्यात् का अर्थ है— 'सर्पिबिन्दुः स्यात्'। यहाँ 'अपि' बिन्दु का द्योतक है। अतः प्रस्तुत सूत्र से 'अपि' की कर्मप्रचवनीय संज्ञा हुई और उपसर्ग न होने के कारण 'स्यात्' के स् को ष् नहीं हुआ।

सम्भावनायां लिङ् इति—'सर्पिषोऽपि स्यात्' में स्यात् अस् (होना) धातु का लिङ्लकार में प्रयोग सम्भावना अर्थ में हुआ है। सम्भावना का विषय भवन (होना) क्रिया है। 'अपि' का 'स्यात्' के साथ सम्बन्ध करके जो भवन (होना) का कर्त्ता है उसकी दुर्लभता द्योतित की गई है। 'भवन' का कर्त्ता यहाँ बिन्दु है, 'अपि स्यात्' से उसकी दुर्लभता सूचित होती है। कर्त्ता 'बिन्दु' की प्रतीति 'अपि' शब्द के बल से हो रही है। तब होना के कर्त्ता (बिन्दु) की दुर्लभता को द्योतित करता हुआ 'अपि' शब्द स्यात् के साथ अन्वित हो जाता है। यहाँ 'अपि' से बिन्दु अर्थ गम्यमान है। सर्पिस् (घृत) से बिन्दु का 'अवयवावयविभाव' सम्बन्ध है अर्थात् 'सर्पिस्' अवयवी और 'बिन्दु' अवयव है, इसी कारण 'सर्पिषः' शब्द में षष्ठी विभक्ति हुई है, द्वितीया नहीं क्योंकि 'सर्पिः' का बिन्दु से योग है, अपि से नहीं।

२. **सम्भावना**—अपि स्तुयाद् विष्णुम् ((वह) विष्णु की स्तुति कर सकता है) में 'अपि' शब्द सम्भावना अर्थ में है। सम्भावना का अर्थ है- शक्ति के उत्कर्ष को प्रकट करने के लिए अत्युक्ति करना। अतः प्रस्तुत सूत्र से 'अपि' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा हुई और उपसर्ग न होने से स्तुयात् के स् को ष् नहीं हुआ।

(यहाँ 'अपि' शब्द में यह सम्भावना छिपी है कि जो व्यक्ति विष्णु की पूजा कर सकता है। वह अन्य देवताओं की, जो विष्णु से नीचे हैं, पूजा कर सकता है।)

३. **अन्ववसर्ग**—अपि स्तुहि (चाहो तो तुम स्तुति करो अथवा नहीं) में अन्ववसर्ग का अर्थ है- इच्छानुसार कार्य करने की अनुमति देना। जब वक्ता निश्चित रूप से आज्ञा नहीं देता और कार्य को करने वाले की इच्छा पर छोड़ देता है तो उस अर्थ में 'अपि' कर्मप्रवचनीय होता है। यहाँ स्तुति करने की निश्चित आज्ञा नहीं परन्तु इच्छा पर छोड़ दिया गया है। अतः 'अपि' कर्मप्रवचनीय है।

४. **गर्हा (निन्दा)**—धिग् देवदत्तम् अपि स्तुयाद् वृषलम् (देवदत्त को धिक्कार है, जो चाण्डाल की स्तुति करता है) में 'अपि' शब्द गर्हा (निन्दा) को द्योतित कर रहा है। अतः 'अपि' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा हुई। कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने से स् का ष् नहीं हुआ है।

५. **समुच्चय**—अपि सिञ्च, अपि स्तुहि (सींचो भी स्तुति भी करो) में 'अपि' शब्द द्वारा समुच्चय द्योतित हो रहा है। जब 'अपि' कई कार्यों को एक साथ जोड़ता है तो कर्मप्रवचनीय होता है। प्रस्तुत वाक्य में दो वाक्यों के कार्यों को एक साथ जोड़ने के कारण समुच्चय अर्थ में 'अपि' कर्मप्रवचनीय है तथा 'स्' को 'ष्' नहीं हुआ है।

इति कर्मप्रवचनीयसंज्ञा

२७. कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे २।३।५।।

इह द्वितीया स्यात्। मासं कल्याणी। मासमधीते। मासं गुडधानाः। क्रोशं कुटिला नदी। क्रोशमधीते। क्रोशं गिरिः। 'अत्यन्तसंयोगे' किम् ? मासस्य द्विरधीते। क्रोशस्यैकदेशे पर्वतः।

अत्यन्त संयोग होने पर काल और गन्तव्य मार्ग को बताने वाले शब्दों के योग में द्वितीया विभक्ति होती है।

अत्यन्त संयोग का अर्थ है लगातार कुछ समय तक या कुछ दूर तक कार्य का निरन्तर होना।

जैसे—मासं कल्याणी (महीने भर कल्याणी है)

मासमधीते (महीने भर पढ़ता है)

मासं गुडधानाः (महीने भर गुड मिले धानों का प्रयोग)

उपर्युक्त तीनों उदाहरणों में 'मास' निरन्तर समय को बताता है। मास के साथ 'कल्याणी', 'अध्ययन' तथा 'गुडधाना' का अत्यन्त संयोग है, अतः 'मास' में द्वितीया विभक्ति हुई।

क्रोशं कुटिला नदी (कोस भर तक नदी टेढ़ी है)

क्रोशमधीते (कोस भर तक निरन्तर पढ़ता है)

क्रोशं गिरिः (कोस भर तक लगातार पर्वत है)

उपर्युक्त तीनों उदहरणों में लगातार कोस भर तक कार्य होने या स्थिति होने के कारण दूरी बताने वाले शब्द 'क्रोश' में द्वितीया विभक्ति हुई है।

अत्यन्तसंयोगे किमिति—अत्यन्त संयोग या कार्य की निरन्तरता होने पर ही द्वितीया क्यों होगी? क्योंकि किसी गुण, क्रिया तथा द्रव्य का किसी समयवाची तथा मार्गवाची शब्दों से निरन्तर संयोग होने पर द्वितीया विभक्ति होती है; किन्तु यदि कालवाचक तथा मार्गवाचक शब्दों के एक अंश से गुण, क्रिया आदि का सम्बन्ध होगा, तो द्वितीया नहीं होगी। जैसे—

मासस्य द्विरधीते (महीने में दो बार पढ़ता है) में अध्ययन क्रिया का 'मास' से लगातार सम्बन्ध नहीं हैं अतएव 'मास' से द्वितीया न होकर सम्बन्ध में षष्ठी विभक्ति हुई।

क्रोशस्यैकदेशे पर्वतः (कोस के एक भाग में पर्वत है) में मार्गवाचक 'क्रोश' शब्द से पर्वत का निरन्तर संयोग नहीं है, यहाँ पर्वत कोस के एक भाग में ही है। अतः 'क्रोश' में द्वितीया विभक्ति नहीं है।

इति द्वितीया।

३. तृतीया

२८. स्वतन्त्रः कर्त्ता १।४।५४।।

क्रियायां स्वातन्त्र्येण विवक्षितोऽर्थः कर्त्ता स्यात्।

क्रिया की सिद्धि में जिसकी स्वतन्त्रता विवक्षित हो, उसे कर्त्ता कहते हैं। कारक स्वतन्त्र वह होता है जो धातु में कहे गये व्यापार का आश्रय होता है। कारक विवक्षा के अधीन है, नियत नहीं—'विवक्षातः कारकाणि भवन्ति' अतः क्रिया के आश्रय को ही कर्त्ता कहते हैं। वह चाहे जड़ हो या चेतन।

जैसे—देवदत्तस्तिष्ठति, वृक्षस्तिष्ठति में देवदत्त और वृक्ष प्रधानभूत कारक है! अतः कर्त्ता है।

२९. साधकतमं करणम् १।४।४२।।

क्रियासिद्धौ प्रकृष्टोपकारकं करणसंज्ञं स्यात्। तमप् ग्रहणं किम्? गंगायां घोषः।

क्रिया की सिद्धि में कर्त्ता जिसकी सबसे अधिक सहायता लेता है उसकी करण संज्ञा होती है। अभिप्राय यह है कि किसी भी क्रिया की सिद्धि में कई कारक सहायक होते हैं उनमें से जो कारक सबसे अधिक सहायक होता है, उसे ही करण कहा जाता है।

'साधकतम्' का अर्थ है प्रकृष्ट उपकारक अर्थात् सबसे अधिक सहायक,। जिस पदार्थ के व्यापार के अनन्तर क्रिया की सिद्धि होती है वही प्रकृष्ट उपकारक कहा जाता है, उसकी करण संज्ञा होती है। जैसे—

रामेण बाणेन हतो बाली (राम ने बाण से बाली को मारा) में मारने की क्रिया में राम आदि साधनों में सबसे अधिक सहायक 'बाण' है तथा बाण के व्यापार के अनन्तर ही 'मारना' क्रिया होती है। अतः अत्यन्त सहायक होने से 'बाण' की करण संज्ञा हुई है।

तमप् ग्रहणं किमिति—तमप् या सर्वाधिक, अतिशय, प्रकृष्ट क्यों कहा है ? क्योंकि जब अत्यधिक सहायक न होगा तो उसमें दूसरी विभक्तियाँ लग सकती हैं, करण नहीं। 'साधकम्' कहने से भी काम चल जाता; किन्तु यदि प्रकृष्ट सहायक न होता तो साधक होने पर भी दूसरी विभक्ति हो सकती है।

जैसे—गंगायां घोषः (गंगा में अहीरों की बस्ती है) में 'आधारोऽधिकरणम्' में तमप् का अर्थ नहीं है, अतः मुख्य आधार के अतिरिक्त गौण आधार में भी अधिकरण संज्ञा और सप्तमी विभक्ति होगी। गंगा मुख्य आधार न होकर, गौण आधार है और गौण की अधिकरण संज्ञा नहीं होगी। 'साधकतमं करणम्' में तमप् का अर्थ लेने पर ही 'प्रकृष्ट उपकारक' की करण संज्ञा होती है।

३०. कर्तृकरणयोस्तृतीया २।३।१९।।

अनभिहिते कर्तरि करणे च तृतीया स्यात्। रामेण बाणेन हतो बाली।

अनभिहित अर्थात् अनुक्त कर्त्ता और करण में तृतीया विभक्ति होती है। जहाँ कर्मवाच्य और भाववाच्य का प्रयोग होता है, वहाँ कर्त्ता अनुक्त होता है।

जैसे—रामेण बाणेन हतो बाली (राम के द्वारा बाण से बाली मारा गया) में 'राम' हनन क्रिया में स्वतन्त्र रूप से विवक्षित है अतः कर्त्ता है, अनभिहित कर्त्ता होने से तृतीया विभक्ति हुई है। मारने की क्रिया में प्रकृष्ट उपकारक अर्थात् सबसे अधिक सहायक बाण है, इसलिए 'साधकतमं करणम्' से करण संज्ञा होकर तृतीया विभक्ति हुई।

प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम् (वार्तिक)

प्रकृत्या चारुः। प्रायेण याज्ञिकः। गोत्रेण गार्ग्यः। समेनैति। विषमेणैति। द्विद्रोणेन धान्यं क्रीणाति। सुखेन दुःखेन वा यातीत्यादि।

प्रकृति आदि (स्वभावादि) शब्दों के योग में तृतीया विभक्ति होती है। प्रकृत्यादिगण अर्थात् प्रकृति, प्रायः, गोत्र, सम (सीधा), विषम (टेढ़ा), द्विद्रोण, पचिंक, साहस्र, दुःख, सुख आदि शब्दों से तृतीया विभक्ति होती है।

जैसे—प्रकृत्या चारुः (स्वभाव से सुन्दर) प्रायेण याज्ञिकः (प्रायः याज्ञिक है)

गोत्रेण गार्ग्यः (गोत्र से गार्ग्य है) समेनैति (सम गति से चलता है)

विषमेणैति (टेढ़ा चलता है)

ये शब्द प्रायः क्रिया विशेषण हैं। क्रिया विशेषण होने से कर्म में द्वितीया प्राप्त थी, किन्तु इस वार्तिक से तृतीया हुई।

द्विद्रोणेन धान्यं क्रीणाति (दो द्रोण से धान्य खरीदता है) में 'दो द्रोण' सम्बन्धी धान्य इस अर्थ में षष्ठी प्राप्त थी, किन्तु इस वार्तिक से तृतीया हुई।

सुखेन दुःखेन वा याति (सुख या दुःख पूर्वक जाता है) में 'सुख' और 'दुःख' शब्द क्रिया-विशेषण है। क्रिया विशेषण होने से द्वितीया प्राप्त थी; किन्तु इस वार्तिक से तृतीया हुई।

३१. दिवः कर्मः च १।४।४३।।

दिवः साधकतमं कारकं कर्मसंज्ञं स्यात्, चात्करणसंज्ञम्। अक्षैरक्षान्वा दीव्यति।

दिव् (जुआ खेलना) धातु के साधकतम अर्थात् अत्यन्त सहायक की कर्म संज्ञा होती है और करण संज्ञा भी।

जैसे—अक्षैः अक्षान् वा दीव्यति (पासों से खेलता है) में 'दिव्' धातु का साधकतम् 'अक्ष' है, अतः उसमें द्वितीया विभक्ति हुई और विकल्प से तृतीया भी हुई।

३२. अपवर्गे तृतीया २।३।६।।

अपवर्गः फलप्राप्तिः तस्यां द्योत्यायां कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे तृतीया स्यात्। अह्ना क्रोशेन वा अनुवाकोऽधीतः। अपवर्गे किम्? मासमधीतो नायातः।

'फलप्राप्ति' अथवा 'कार्यसिद्धि' को अपवर्ग कहते हैं। अपवर्ग अर्थ में तृतीया होती है। फलप्राप्ति या कार्यसिद्धि का बोध कराने में कालवाची तथा मार्गवाची शब्दों से अत्यन्त संयोग में तृतीया विभक्ति होती है। अर्थात् जितने समय में या जितने मार्ग चलते चलते कोई कार्य सिद्धि हो जाता है, तो ऐसे समय और मार्ग वाचक शब्द में तृतीया होती है। जैसेः- अह्ना क्रोशेन वा अनुवाकोऽधीतः (एक दिन में या एक कोस चलते-चलते अनुवाक को पढ़ लिया) में 'काल' तथा 'दूरी' की निरन्तरता के साथ कार्य की सिद्धि (पढ़ लिया) भी कही गयी है, अतः 'काल' तथा 'मार्ग' की दूरी बताने वाले शब्दों 'अह्ना' और 'क्रोशेन' में तृतीया हुई है।

अपवर्गे किमिति—अपवर्गे (फलप्राप्ति) कहने का क्या अभिप्राय है ?इसका उत्तर है—यदि निरन्तर कार्य करते हुए भी कार्यसिद्धि अर्थात् फलप्राप्ति न हो तो कालवाची और मार्गवाची शब्दों से तृतीया विभक्ति नहीं होगी, अपितु 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' सूत्र से द्वितीया विभक्ति ही होगी। जैसे—मासमधीतो नायातः (मास भर निरन्तर पढ़ा किन्तु आया नहीं) में कार्यसिद्धि या फलप्राप्ति नहीं होती है, इसलिए 'मास' में द्वितीया हुई है।

३३. सहयुक्तेऽप्रधाने २।३।१९।।

सहार्थेन युक्ते अप्रधाने तृतीया स्यात्। पुत्रेण सहागतः पिता। एवं साकंसार्धंसमंयोगेऽपि। विनापि तद्योगं तृतीया 'वृद्धो यूना' इत्यादिनिर्देशात्।

सह (साथ) का अर्थ बताने वाले शब्दों के योग में प्रधान कर्ता का साथ देने वाले अप्रधान में तृतीया होती है। प्रधान उसको कहते हैं जो क्रिया का कर्त्ता होता है, जिसका

सम्बन्ध क्रिया से होता है। अप्रधान वह होता है जिसका क्रिया के साथ सम्बन्ध अर्थ के आधार पर ज्ञात होता है। जैसे—

पुत्रेण सहागतः पिता (पुत्र के साथ पिता आया) में पिता प्रधान है, आगतः का कर्त्ता है। प्रधान का साथ देने वाले अप्रधान (पुत्र) में 'सह' के योग में तृतीया हुई है। इसी प्रकार 'साथ' अर्थ वाले साकं, सार्ध, समं' अव्ययों के योग में भी अप्रधान में तृतीया होती है। जब ये शब्द नहीं रहते हैं, छिपे रहते हैं तो भी अप्रधान में तृतीया होती है। जैसे—

वृद्धो यूना (युवक के साथ वृद्ध) में सह का उल्लेख स्पष्ट न हाने पर भी 'यूना' में तृतीया हुई है, क्योंकि सह अर्थ की प्रतीति होती है।

३४. येनाङ्गविकारः २।३।२०।।

येनाङ्गेन विकृतेनाङ्गिनो विकारो लक्ष्यते ततस्तृतीया स्यात्। अक्ष्णा काणः। अक्षसम्बन्धिकाणत्वविशिष्ट इत्यर्थः। 'अङ्गविकारः' किम्? अक्षिकाणमस्य।

जिस विकृत अङ्ग के द्वारा अङ्गी का विकार लक्षित हो, उस अंग के वाचक शब्द में तृतीया विभक्ति होती है। अंगविकार का अर्थ है—'अंगवान् पुरुष का विकार।

जैसे—अक्ष्णा काणः (एक आँख का काना) में अंगी के आँख के विकृत होने से 'कानापन' लक्षित होता है। अतः आँख वाचक शब्द 'अक्षि' में तृतीया विभक्ति हुई है।

इसी प्रकार पादेन खञ्जः (पैर से लगड़ा), शिरसा खल्वाटः (सिर से गंजा), कर्णेन बधिरः (कान का बहरा) आदि उदाहरणों में पैर, सिर, तथा कान के विकृत होने से अंगी का लंगड़ापन, गंजापन और बहरापन लक्षित होता है। अतः उक्त सूत्र से क्रमशः पाद, शिर और कर्ण में तृतीया विभक्ति हुई है।

अंगविकारः किमिति—अंगी का विकार होने से ही तृतीया होगी ऐसा क्यों कहा है ?क्योंकि जब अंग के विकार से व्यक्ति (अंगी) का विकार न कहा गया हो, केवल अंग विकार का उल्लेख किया गया हो, तो अंगवाचक शब्द से तृतीया नहीं होती है। जैसेः- अक्षि काणमस्य (उसकी आँख कानी है) अतः 'अक्षि' में तृतीया नहीं हुई, क्योंकि उससे अंगी का विकार लक्षित नहीं होता है।

३५. इत्थंभूतलक्षणे २।३।२१।।

कञ्चित्प्रकारं प्राप्तस्य लक्षणे तृतीया स्यात्। जटाभिस्तापसः। जटाज्ञाप्य-तापसत्वविशिष्ट इत्यर्थः।

जिस लक्षण या चिह्वविशेष से किसी व्यक्ति या वस्तु की पहचान होती है, उस लक्षणवाचक शब्द में तृतीया विभक्ति होती है। इत्थंभूतलक्षणे में 'इत्थंभूत' शब्द का अर्थ है—इस प्रकार हुआ, किसी विशेष दशा को प्राप्त हुआ अर्थात् किसी विशेष दशा को प्राप्ति का बोध कराने वाले चिह्न में तृतीया विभक्ति होती है।

जैसे—जटाभिः तापसः (जटाओं से तपस्वी) में 'जटा' चिह्न से तपस्वी होना सूचित होता है। तापसत्व रूप विशेष अवस्था का ज्ञापक 'जटा' है, अतः 'जटाभिः' में तृतीया विभक्ति हुई।

३६. संज्ञोऽन्यतरस्यां कर्मणि २।३।२२।।

सम्पूर्वस्य जानातेः कर्मणि तृतीया वा स्यात्। पित्रा, पितरं वा संजानीते।

सम् उपसर्ग पूर्वक ज्ञा (जानने के अर्थ में) धातु के कर्म में विकल्प से तृतीया विभक्ति होती है। पक्ष में द्वितीया होती है।

जैसे—पित्रा पितरं वा संजानीते (पिता को सम्यक् जानता है) में 'ज्ञा' धातु का कर्म 'पिता' है। कर्म होने से 'कर्मणि द्वितीया' से द्वितीया प्राप्त थी, किन्तु सम् उपसर्ग लगने के कारण 'ज्ञा' धातु के कर्म 'पिता' में विकल्प से तृतीया विभक्ति भी हुई है।

३७. हेतौ २।३।२३।।

हेत्वर्थे तृतीया स्यात्। द्रव्यादिसाधारणं निर्व्यापारसाधारणं च हेतुत्वम्। कारणत्वं तु क्रियामात्रविषयं व्यापारनियतं च । दण्डेन घटः, पुण्येन दृष्टो हरिः। फलमपीह हेतुः। अध्ययनेन वसति। गम्यमानाऽपि क्रिया कारकविभक्तौ प्रयोजिका। अलं श्रमेण। श्रमेण साध्यं नास्तीत्यर्थः। इह साधनक्रियां प्रति श्रमः करणम्। शतेन शतेन वत्सान् पाययति पयः। शतेन परिच्छिद्यत्यर्थः।

हेतु अर्थ में हेतु (कारण) वाचक शब्दों में तृतीया होती है। अर्थात् जिस कारण या प्रयोजन से कोई कार्य होता है, उस कारण या प्रयोजन में तृतीया होती है।

यह नियम है कि जो फल साधन के योग्य होता है वह हेतु होता है, फल साधन के योग्य तो करण भी होता है अतः हेतु भी करण ही हुआ। करण होने से स्वयं तृतीया सिद्ध हो जायगी तो पुनः हेतु में तृतीया का विधान निरर्थक हो जायगा। इसके समाधान के लिए हेतु और करण के अन्तर को समझना आवश्यक है—

हेतु और करण में अन्तर यह है कि हेतु साधारण द्रव्य, गुण और क्रिया सभी का जनक हो सकता है, चाहे उसमें कोई व्यापार हो न हो किन्तु करण सदा क्रियामात्र का जनक होता है और उस करण में नियत रूप से क्रिया का साधक व्यापार रहता है।

हेतु रूप में द्रव्य का उदाहरण-दण्डेन घटः (दण्ड से बना घड़ा) में 'दण्ड', घड़ा बनने में कारण है, अतएव यह हेतु है और इसी से दण्ड में तृतीया हुई है। यहाँ दण्ड में व्यापार है, किन्तु दण्ड से किसी क्रिया की सिद्धि नहीं होती है। इसलिए उसे करण नहीं कहा जा सकता।

गुण का हेतु रूप में उदाहरण- पुण्येन गौरवर्णः (पुण्य के कारण गोरा है) में यहाँ गुण हेतु है।

क्रिया का हेतु रूप में उदाहरण—पुण्येन दृष्टो हरिः (पुण्य के कारण हरि दिखाई पड़े) में 'पुण्य' व्यापाररहित होने से 'करण' नहीं है, किन्तु 'हरि' के दर्शन रूप कार्य का हेतु है, अतएव 'पुण्य' में तृतीया हुई है।

फलमपीह इति—सूत्र में 'हेतु' शब्द से फल या प्रयोजन का भी ग्रहण होता है। हेतु रूप से गृहीत होने के कारण फलवाचक शब्द से तृतीया विभक्ति होती है।

जैसे—अध्ययनेन वसति (अध्ययन करने के प्रयोजन से रहता है) में अध्ययन 'वास' क्रिया के द्वारा साध्य होने से फल है। अतः हेतु रूप में गृहीत होने के कारण 'अध्ययन' में तृतीया विभक्ति हुई है।

गम्यमाना इति—यदि क्रिया का वाक्य में प्रयोग न हो अथवा क्रिया वाक्य में स्पष्ट रूप से उक्त न हो, फिर भी अर्थमात्र से प्रतीत होती हो, तो वह क्रिया कारक विभक्ति का हेतु होती है।

जैसे—अलं श्रमेण (श्रम से बस करो) इसका अर्थ है-'श्रमेण साध्यं नास्ति' (परिश्रम से सिद्ध) होने वाला नहीं है) में 'श्रम' साधन क्रिया के प्रति करण है। साधन क्रिया वाक्य में प्रयुक्त नहीं है अपितु अध्याहार से जानी जाती है, गम्यमान है। अतः 'श्रम' की करण संज्ञा होकर तृतीया विभक्ति हुई।

शतेन शतेन वत्सान् पाययति पयः (सौ-सौ करके बछड़ों को पानी पिलाता है) में परिच्छेद्य (बाँटकर) क्रिया के लुप्त होने पर भी उसके करण 'शत' में तृतीया विभक्ति हुई।

अशिष्टव्यवहारे दाणः प्रयोगे चतुर्थ्यर्थे तृतीया (वार्तिक)

दास्या संयच्छते कामुकः। धर्म्ये तु भार्यायै संयच्छति।

अशिष्ट व्यवहार (अनैतिक कर्म) के विषये में 'दाण्' (देना) धातु का प्रयोग होने पर चतुर्थी के अर्थ में तृतीया विभक्ति होती है। जैसे—

दास्या संयच्छते कामुकः (कामी व्यक्ति अनैतिक सम्बन्ध की इच्छा से दासी को धन देता है) यहाँ चतुर्थी प्राप्त थी; किन्तु कामुकता के भाव से दासी को कुछ देना अशिष्ट व्यवहार है। संयच्छते में 'दाण्' धातु को 'यच्छ्' आदेश हुआ। अतः सम्प्रदान 'दासी' में चतुर्थी न होकर तृतीया हुई।

धर्म्ये तु—धर्मपूर्ण या उचित व्यवहार के साथ 'दा' धातु का प्रयोग होने पर चतुर्थी होती है, तृतीया नहीं। जैसे—

भार्यायै संयच्छते (पत्नी को देता है) इस वाक्य में पत्नी के धर्मपूर्ण दान के अर्थ में 'भार्या' में चतुर्थी हुई है।

इति तृतीया।

४. चतुर्थी

३८. कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम् १।४।३२।।

दानस्य कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानसंज्ञः स्यात्।

दान क्रिया के कर्म द्वारा कर्त्ता जिसे सन्तुष्ट करना चाहता है, वह पदार्थ सम्प्रदान कहा जाता है।

'सम्प्रदीयते अस्मै तत् सम्प्रदानम्' अर्थात् जिसे कुछ वस्तु दी जाती है, वह सम्प्रदान कहलाता है। तात्पर्य यह है कि कर्त्ता अपने दान कर्म के द्वारा जिसे उद्देश्य

बनाता है अर्थात् दान देता है, उसकी सम्प्रदान संज्ञा होती है। दान का अर्थ है किसी वस्तु आदि को देकर फिर न ग्रहण करना, उसे दूसरे का बना देना।

३९. चतुर्थी सम्प्रदाने २।३।१३।।

विप्राय गां ददाति। अनभिहित इत्येव। दानीयो विप्रः।

सम्प्रदान कारक में चतुर्थी विभक्ति होती है। जैसे—

'विप्राय गां ददाति'(ब्राह्मण को गाय देता है) यहाँ 'गोदान' कर्म के द्वारा कर्त्ता 'विप्र' को सन्तुष्ट करना चाहता है। अतः 'विप्र' की सम्प्रदान संज्ञा हुई और 'सम्प्रदाने चतुर्थी' से चतुर्थी विभक्ति हुई।

अनभिहित होने पर ही सम्प्रदान होता है। अभिहित सम्प्रदान में ''प्रातिपदिकार्थलिंग०' में प्रथमा हो जायगा। जैसे—

दानीयो विप्रः में दा धातु से सम्प्रदान के अर्थ में अनीयर् प्रत्यय है और सम्प्रदान अभिहित हो गया है, अतः प्रथमा विभक्ति है।

क्रियया यमभिप्रैति सोऽपि सम्प्रदानम् (वार्तिक)। पत्ये शेते।

न केवल दान कर्म के द्वारा अपितु विशेष क्रिया के द्वारा जो (अभीष्ट) अभिप्रेत है वह भी सम्प्रदान कहलाता है।

जैसे—पत्ये शेते(पति के लिए सोती है) में 'शयन' क्रिया का अभिप्रेत 'पति' है अर्थात् पति को अनुकूल बनाने की क्रिया द्वारा कर्त्ता का उद्देश्य 'पति' है, अतः 'पति' में सम्प्रदान कारक होकर चतुर्थी विभक्ति हुई है।

यजेः कर्मणः करणसंज्ञा सम्प्रदानस्य च कर्मसंज्ञा (वार्तिक)।

पशुना रुद्रं यजते। पशुं रुद्राय ददातीत्यर्थः।

यज् (यज्ञ करना) धातु के कर्म की करणसंज्ञा और सम्प्रदान की कर्मसंज्ञा होती है। तात्पर्य यह है कि यज् धातु के प्रयोग होने पर जब एक ही वाक्य में कर्म और सम्प्रदान दोनों आवें, तो कर्म को करण संज्ञा और सम्प्रदान को कर्मसंज्ञा हो जाती है। कर्म में तृतीया तथा सम्प्रदान में द्वितीया होती है।

जैसे—पशुना रुद्रं यजते (पशु से रुद्र को पूजता है) इसका समानार्थक है-पशुं रुद्राय ददाति। इस वाक्य में 'पशु' कर्म को करण संज्ञा (पशुना) तथा सम्प्रदान (रुद्राय) को कर्म संज्ञा (रुद्रं) हो गई है। अतः 'पशुना रुद्रं यजते' का अर्थ है 'पशु रुद्राय ददाति' (रुद्र के लिए पशु देता है)।

४०. रुच्यर्थानां प्रीयमाणः १।४।३३।।

रुच्यर्थानां धातूनां प्रयोगे प्रीयमाणोऽर्थः सम्प्रदानं स्यात्। हरये राचते भक्तिः। अन्यकर्तृकोऽभिलाषो रुचिः। हरिनिष्ठप्रीतेर्भक्तिः कर्त्री। 'प्रीयमाणः' किम् ? देवदत्ताय रोचते मोदकः पथि।

रुच् (अच्छा लगना) धातु तथा रुचि के समान अर्थवाली धातुओं के योग में प्रसन्न होने वाला सम्प्रदान कहलाता है। यहाँ रुचि का अर्थ है-अभिप्रीति या पसन्द या अच्छा लगना और प्रीयमाण का अर्थ है-जिसे प्रसन्न किया जा रहा हो। जैसे—

हरये रोचते भक्तिः (हरि को भक्ति अच्छी लगती है) इस वाक्य में 'रुच्' धातु का प्रयोग हुआ है। अतः 'रुच्' धातु के योग में प्रसन्न होने वाले 'हरि' की सम्प्रदान संज्ञा होकर 'चतुर्थी सम्प्रदाने' से उसमें चतुर्थी विभक्ति हुई।

अन्यकर्तृक इति—अन्य के द्वारा उत्पन्न की गई अभिलाषा को 'रुचि' कहते हैं। प्रस्तुत उदाहरण में 'हरि' में रहने वाली रुचि (प्रीति) को भक्ति उत्पन्न करने वाली है। अतः 'हरि' की सम्प्रदान संज्ञा हुई और उसमें चतुर्थी हुई।

अभिलाषा स्वयं मन में उत्पन्न होता है, किसी के द्वारा उत्पन्न नहीं की जाती। अतः 'अभिलषित' आदि का प्रयोग होने पर चतुर्थी विभक्ति न होकर द्वितीया विभक्ति होती है।

जैसे—हरिः भक्तिम् अभिलषति। इस प्रकार रुचि और अभिलाषा में अन्तर है।

प्रीयमाणः किमिति—प्रीयमाण (प्रसन्न हाने वाला व्यक्ति) की सम्प्रदान संज्ञा क्यों कहा है? इसलिए कहा कि यहाँ प्रीयमाण की सम्प्रदान संज्ञा होगी, अन्य की नहीं।

जैसे—देवदत्ताय रोचते मोदकः पथि (देवदत्त को मार्ग में लड्डू अच्छे लगते हैं) यहाँ मोदक खाकर देवदत्त प्रसन्न होने वाला है। अतः प्रीयमाण 'देवदत्त' की सम्प्रदान संज्ञा हुई है।

४१. श्लाघह्नुङ्स्थाशपां ज्ञीप्स्यमानः १।४।३४।।

एषां प्रयोगे बोधयितुमिष्टः सम्प्रदानं स्यात्। गोपी स्मरात् कृष्णाय श्लाघते, ह्नुते तिष्ठते शपते वा। 'ज्ञीप्स्यमानः' किम् ? देवदत्ताय श्लाघते पथि।

श्लाघ् (प्रसन्न करना), ह्नुङ् (छिपना), स्था (रुकना), शप् (उलाहना देना) इन धातुओं का प्रयोग होने पर ज्ञीप्स्यमान अर्थात् जिस पर कर्त्ता अपना भाव प्रकट करना चाहता है, उसकी सम्प्रदान संज्ञा होती है। "ज्ञीप्स्यमानः बोधयितुमिष्टः" अर्थात् जिसको बतलाना अभीष्ट हो। जैसे—

१. गोपी स्मरात् कृष्णाय श्लाघते (गोपी स्मरपीड़ा से कृष्ण की प्रशंसा करती है) यहाँ गोपी प्रशंसा करते समय कृष्ण को अपना प्रेम बताना चाहती है, अपनी प्रशंसा से अवगत कराना चाहती है। अतः 'कृष्ण' ज्ञीप्स्यमान होने से सम्प्रदान कारक हुआ है।

२. कृष्णाय ह्नुते (कृष्ण को सपत्नियों से छिपाती है) यहाँ 'कृष्ण' को बचाने के लिये छिपाती है। छिपाते समय यह भी चाहती है कि कृष्ण को उसकी प्रेमदशा का पता चल जाय। अतः यहा भी 'कृष्ण' में सम्प्रदान हुआ है।

३. कृष्णाय तिष्ठते (गोपी स्मरण पीड़ा से कृष्ण के लिए रुकती है) में ठहरना क्रिया से गोपी अपनी कामदशा को कृष्ण को बताना अभीष्ट है, अतः 'कृष्ण' की सम्प्रदान संज्ञा हुई।

४. कृष्णाय शपते (कृष्ण को उलाहना देती है) यहाँ गोपी उलाहना के द्वारा कृष्ण को अपना भाव बताना चाहती है। अतः 'कृष्ण' की सम्प्रदान संज्ञा हुई।

ज्ञीप्स्यमानः किमिति-सूत्र में 'ज्ञीप्स्यमान' रखने का तात्पर्य है कर्त्ता जिस पर अपना भाव प्रकट करना नहीं चाहता उसकी सम्प्रदान संज्ञा नहीं होती। जैसे:-

देवदत्ताय श्लाघते पथि (रास्ते में देवदत्त की प्रशंसा करता है) में 'पथ' को बताना अभीष्ट नहीं है। अतः पथि की सम्प्रदान संज्ञा नहीं हुई। ज्ञीप्स्यमान 'देवदत्त' की सम्प्रदान संज्ञा हुई।

४२. धारेरुत्तमर्णः १।४।३५।।

धारयतेः प्रयोगे उत्तमर्ण उक्तसञ्ज्ञः स्यात्। भक्ताय धारयति मोक्षं हरिः। 'उत्तमर्णः' किम्? देवदत्ताय शतं धारयति ग्रामे।

'धारि' (उधार लेना, कर्ज धारण करना) धातु के योग में उत्तमर्ण (कर्ज देने वाले) की सम्प्रदान संज्ञा होती है। जैसे—

भक्ताय धारयति मोक्षं हरिः (हरि भक्त के लिये मोक्ष का कर्जदार है) यहाँ 'धारि' धातु का प्रयोग किया गया है, और ऋण 'हरि' के ऊपर है अर्थात् हरि पर भक्त का भक्तिरूपी ऋण है। 'हरि' अधमर्ण ऋणी है और भक्त उत्तमर्ण (कर्ज देने वाला) है। अतः उत्तमर्ण 'भक्त' की सम्प्रदान संज्ञा होकर उसमें चतुर्थी विभक्ति हुई।

उत्तमर्णः किमिति—उत्तमर्ण में ही सम्प्रदान संज्ञा क्यों कहा है ?ऐसा इसलिये कि 'देवदत्ताय शतं धारयति ग्रामे' (ग्राम में देवदत्त का सौ रूपये का देनदार है) में उत्तमर्ण (कर्ज देने वाले) देवदत्त की सम्प्रदान संज्ञा तो हुई परन्तु 'ग्राम' जो उत्तमर्ण नहीं है उसकी सम्प्रदान संज्ञा नहीं हुई बल्कि उसमें आधार होने के कारण सप्तमी विभक्ति हुई है।

४३. स्पृहेरीप्सितः १।४।३६।।

स्पृहयतेः प्रयोगे इष्टः सम्प्रदानं स्यात्। पुष्पेभ्यः स्पृहयति। 'ईप्सितः' किम्? पुष्पेभ्यो वने स्पृहयति। इप्सितमात्रे इयं संज्ञा। प्रकर्षविवक्षायां तु परत्वात्कर्मसंज्ञा। पुष्पाणि स्पृहयति।

स्पृह् (चाहना) धातु के योग में ईप्सित (चाहा हुआ) पदार्थ सम्प्रदान संज्ञक होता है अर्थात् जिसे चाहा जाय उसकी सम्प्रदान संज्ञा होती है। जैसे—

पुष्पेभ्यः स्पृहयति (फूलों की इच्छा करता है) यहाँ स्पृह् धातु के योग में 'पुष्प' को चाहता है अतः 'पुष्प' की सम्प्रदान संज्ञा होकर 'चतुर्थी सम्प्रदाने' से चतुर्थी विभक्ति हुई।

ईप्सितः किमिति—सूत्र में 'ईप्सित' क्यों कहा है ?इसका उत्तर है-पुष्पेभ्यो वने स्पृहयति (वन में फूलों को चाहता है) में कर्त्ता का ईप्सित पदार्थ 'पुष्प' है 'वन' नहीं, इसलिये 'वन' की सम्प्रदान संज्ञा नहीं हुई। आधार होने के कारण 'वन' में सप्तमी विभक्ति हुई है।

ईप्सितमात्रे इति—साधारण रूप से 'ईप्सित' (चाहे) हुए पदार्थ की ही सम्प्रदान संज्ञा होगी न कि 'ईप्सिततम' (अत्यधिक चाहे) हुए पदार्थ की। जहाँ चाह का आधिक्य विवक्षित होगा। वहाँ 'कर्तुरीप्सितमं कर्म' से कर्म कारक हो जायगा।

जैसे—पुष्पाणि स्पृहयति (फूलों को चाहता है) में 'फूलों' की ईप्सिततम (अत्यधिक चाह) होने से सम्प्रदान संज्ञा न होकर कर्मसंज्ञा हुई और पुष्प द्वितीया विभक्ति हुई है।

४४. क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थानां यं प्रति कोपः १।४।३७।।

क्रुधाद्यर्थानां प्रयोगे यं प्रति कोपः स उक्तसंज्ञः स्यात्। हरये क्रुध्यति, द्रुह्यति, ईर्ष्यति, असूयति वा। यं प्रति कोपः किम्? भार्यामीर्ष्यति मैनामन्योऽद्राक्षीदिति। क्रोधोऽमर्षः। द्रोहोऽपकारः। ईर्ष्याऽक्षमा। असूया गुणेषु दोषाविष्करणम्। द्रुहादयोऽपि कोपप्रभवा एव गृह्यन्ते अतो विशेषणं सामान्येन 'यं प्रति कापेः' इति।

'क्रुध् (क्रोध करना), द्रुह् (वैर करना), ईर्ष्य् (ईर्ष्या करना), असूय (गुणों में दोष निकालाना) इन धातुओं तथा इन धातुओं के समान अर्थ रखने वाली धातुओं के योगे में जिसके ऊपर क्रोध किया जाता है, उसकी सम्प्रदान संज्ञा होती है और उसमें चतुर्थी विभक्ति होती है। जैसे—

१. हरये क्रुध्यति (हरि पर क्रोध करता है)

२. हरये द्रुह्यति (हरि से द्रोह करता है)

३. हरये ईर्ष्यति (हरि से ईर्ष्या करता है)

४. हरये असूयति (हरि से असूया करता है)

इन उदाहरणों में क्रोध, द्रोह, ईर्ष्या और असूय का विषय 'हरि' है अतः 'हरि' की सम्प्रदान संज्ञा होकर उसमें चतुर्थी विभक्ति हुई।

यं प्रति कोपः किमिति—जिसके प्रति क्रोध किया जाय, उसकी सम्प्रदान संज्ञा क्यों कहा ?क्योंकि क्रोध का अर्थ न होने पर अर्थात् कोप न होने पर सम्प्रदान संज्ञा नहीं होती। जैसे—

भार्यामीर्ष्यति (अपनी पत्नी से ईर्ष्या करता है) यहाँ पत्नी से ईर्ष्या इसलिये करता है ताकि 'मा एनाम् अन्यो द्राक्षीत्' अर्थात् दूसरा इसे न देखे। इस प्रकार उसका पत्नी के प्रति कोप नहीं, बल्कि उसका दूसरों के द्वारा देखा जाना असह्य है। अतः 'भार्या' में सम्प्रदान न होकर कर्मकारक द्वितीया विभक्ति हुई है।

क्रोध, अमर्ष या असहनशीलता को कहते हैं। द्रोह, अपकार करने या बुरा करने को कहते हैं। ईर्ष्या किसी से जलन करने तथा असूया गुणों में दोष निकालने को कहते हैं। द्रोह इत्यादि को भी कोप से उत्पन्न ही समझना चाहिये। इसलिये 'यं प्रति कोपः' वाक्य में 'कोप' शब्द के अन्तर्गत द्रोह, ईर्ष्या, असूया भी समझनी चाहिये। यह सामान्य रूप से इन सभी का विश्लेषण है।

४५. क्रुधद्रुहोरुपसृष्टयोः कर्मः १।४।३८।।

सोपसर्गयोरनयोर्योगे यं प्रति कोपस्तत्कारकं कर्मसंज्ञं स्यात्। क्रूरमभिक्रुध्यति। अभिद्रुह्यतिवा।

जब क्रुध् और द्रुह् धातु सोपसर्ग (उपसर्ग सहित) होती है, तब जिस पर क्रोध या द्रोह किया जाता है, उसकी कर्म संज्ञा होती है, सम्प्रदान नहीं। जैसे—

क्रूरमभिक्रुध्यति अभिद्रुह्यति (क्रूर के प्रति क्रोध करता है, द्रोह करता है) यहाँ उपसर्ग के साथ 'क्रुध्' और 'द्रुह्' धातुओं का प्रयोग हुआ है और क्रूर के प्रति क्रोध किया गया है। अतः 'क्रूर' की कर्मसंज्ञा होकर द्वितीया विभक्ति हुई, सम्प्रदान संज्ञा नहीं।

४६. राधीक्ष्योर्यस्य विप्रश्नः १।४।३९।।

एतयोः कारकं सम्प्रदानं स्यात्, यदीयो विविधः प्रश्नः क्रियते। कृष्णाय राध्यति, ईक्षते वा। पृष्टो गर्गः शुभाऽशुभं पर्यालोचयति इत्यर्थः।

राध् (आराधना, प्रसन्न करना), ईक्ष् (देखना) धातुओं के योग में जिस व्यक्ति के विषय में शुभ, अशुभ विषयक अनेक प्रकार के प्रश्न किये जाते हैं तो उस व्यक्ति की सम्प्रदान संज्ञा होती है। जैसे—

कृष्णाय राध्यति ईक्षते वा (कृष्ण के विषय में किये गये प्रश्नों पर विचार करता है अर्थात् पूछे जाने पर (गर्ग नामक ज्योतिषी) कृष्ण के शुभाशुभ का विचार करता है।) यहाँ कृष्ण के विषय में प्रश्न किया गया है। अतः 'कृष्ण' की सम्प्रदान संज्ञा होकर चतुर्थी विभक्ति हुई है।

४७. प्रत्याङ्भ्यां श्रुवः पूर्वस्य कर्त्ता १।४।४०।।

आभ्यां परस्य शृणोतेर्योगे पूर्वस्य प्रवर्तनरूपव्यापारस्य कर्त्ता सम्प्रदानं स्यात्। विप्राय गां प्रतिशृणोति, आशृणोति वा। विप्रेण मह्यं देहीति प्रवर्तितः, तत्प्रतिजानीतः इत्यर्थः।

प्रति और आङ् (आ) उपसर्गपूर्वक 'श्रु' धातु के योग में पूर्व प्रेरणा रूप व्यापार (क्रिया) का जो कर्त्ता है अर्थात् जो पहले प्रेरणा करने वाला है या प्रेरित करने वाला होता है, उसकी सम्प्रदान संज्ञा होती है। जैसे—

विप्राय गां प्रतिशृणोति आशृणोति वा (विप्र को गाय देने की प्रतिज्ञा करता है) यहाँ पहले ब्राह्मण कहता है कि मुझे गाय दे दो तब दूसरा उसे गाय देने का वचन देता है। इसमें विप्र पूर्व व्यापार अर्थात् प्रेरणा का कर्त्ता है। अतः 'विप्र' की सम्प्रदान संज्ञा होकर चतुर्थी विभक्ति हुई है।

४८. अनुप्रतिगृणश्च १।४।४१।।

आभ्यां गृणातेः कारकं पूर्वव्यापारस्य कर्तृभूतमुक्तसंज्ञं स्यात्। होत्रेऽनुगृणाति, प्रतिगृणाति वा। होता प्रथमं शंसति, तमध्वर्युः प्रोत्साहयतीत्यर्थः।

अनु और प्रति उपसर्ग पूर्वक 'गृ' (प्रोत्साहित करना) धातु के योग में पूर्व व्यापार के कर्त्ता की सम्प्रदान संज्ञा होती है। जैसे—

होत्रेऽनुगृणाति प्रतिगृणाति वा (होता को प्रोत्साहित करता है) में होता (यज्ञकर्ता) पहले बोलता है और अध्वर्यु (अन्य यज्ञ कर्त्ता) बाद में उसका अनुसरण कर उसे प्रोत्साहित करता है। यहाँ 'होतृ' बोलना (शंसति) रूप पूर्व व्यापार का कर्त्ता है, अतएव 'होता' की सम्पद्रान संज्ञा होकर चतुर्थी विभक्ति हुई।

४९. परिक्रयणे सम्प्रदानमन्यतरस्याम् १।४।४४।।

नियतकालं भृत्या स्वीकरणं परिक्रयणम्, तस्मिन् साधकतमं कारकं सम्प्रदानसंज्ञं वा स्यात्। शतेन, शताय वा परिक्रीतः।

परिक्रयण अर्थ में करण कारक की विकल्प से सम्प्रदान संज्ञा होती है। निश्चित काल के लिए वेतन इत्यादि पर किसी को रखना या लगाना उसका परिक्रयण कहलाता है। उस 'परिक्रयण' में जो करण होता है, वह विकल्प से सम्प्रदान होता है। जैसे:-

शतेन शताय वा परिक्रीतः (सौ रूपये पर रखा हुआ है) में 'शत' की सम्प्रदान संज्ञा होकर चतुर्थी विभक्ति हुई। सम्प्रदान न होने पर करण कारक तृतीया विभक्ति हुई।

तादर्थ्ये चतुर्थी वाच्या (वार्तिक)। मुक्तये हरिं भजति।

जिस प्रयोजन के लिए कोई कार्य किया जाता है, उस प्रयोजन में चतुर्थी विभक्ति होती है। तादर्थ्य का अर्थ है- 'तस्मै इदं तदर्थम्, तस्य भावः'। जैसेः-

मुक्तये हरिं भजति (मुक्ति के लिए हरि को भजता है) में 'हरि' के भजन का प्रयोजन 'मुक्ति' है। अतः प्रयोजन अर्थ में 'मुक्तये' में चतुर्थी विभक्ति हुई।

क्लृपि सम्पद्यमाने च (वार्तिक)। भक्तिर्ज्ञानाय कल्पते, सम्पद्यते, जायते इत्यादि।

क्लृप् (सम्पन्न होना या उत्पन्न होना) अर्थ वाली धातुओं के योग में जो फल रूप में उत्पन्न होता है, उसमें चतुर्थी होती है। तात्पर्य यह है कि यदि कोई कार्य किसी फल की प्राप्ति के लिये किया जाता तो जो फलरूप में उत्पन्न हो उसमें चतुर्थी होती है। जैसे—

भक्तिः ज्ञानाय कल्पते (भक्ति ज्ञान के लिए होती है अर्थात् भक्ति से ज्ञान होता है) में 'क्लृप्' धातु का प्रयोग है और 'ज्ञान' सम्पद्यमान है अतः 'ज्ञान' में चतुर्थी विभक्ति हुई।

उत्पातेन ज्ञापिते च (वार्तिक)। वाताय कपिला विद्युत्।

उत्पात का अर्थ है प्रकृति का विकार या अशुभ सूचक अकस्मात् होने वाला भौतिक विकार। तात्पर्य यह है कि भौतिक उत्पात जिस वस्तु को सूचित करता है, उसमें चतुर्थी विभक्ति होती है। जैसे—

वाताय कपिला विद्युत् (कपिल वर्ण की बिजली आँधी की सूचना देती है) में 'कपिला' विद्युत् उत्पात है, उससे आँधी की सूचना मिलती है। अतः उत्पात रूप 'वाताय' में चतुर्थी विभक्ति हुई।

हितयोगे च (वार्तिक)। ब्राह्मणाय हितम्।

हित के योग में जिसका हित हो, उसमें चतुर्थी विभक्ति होती है। जैसे–

ब्राह्मणाय हितम् (ब्राह्मण के लिए हितकर) में ब्राह्मण का हित दिखाया गया है। अतः 'हित' के योग में ब्राह्मण में चतुर्थी विभक्ति हुई।

५०. क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः २।३।१४।।

क्रियार्था क्रिया उपपदं यस्य तस्य स्थानिनोऽप्रयुज्यमानस्य तुमुनः कर्मणि चतुर्थी स्यात्। फलेभ्यो याति। फलानि आहर्तुं याति इत्यर्थः। नमस्कुर्मो नृसिंहाय। नृसिंहमनुकूलयितुम् इत्यर्थः। एवं 'स्वयम्भुवे नमस्कृत्य' इत्यादावपि।

क्रियार्थ (क्रिया के लिए क्रिया अर्थात् जिस क्रिया का प्रयोजन दूसरी क्रिया हो ऐसी क्रिया) जिसके उपपद में हो तथा तुमुन् प्रत्ययान्त धातु का प्रयोग न हो, तो तुमुनन्त अप्रयुज्यमान (जिसका स्थान हो किन्तु प्रयोग न हो) क्रिया के कर्म में चतुर्थी विभक्ति होती है। जैसे–

फलेभ्यो याति (फलों के लिए जाता है) इसका अर्थ है-फलानि आहर्तुं याति (फलों को लाने के लिए जाता है) यहाँ क्रियार्थ क्रिया-याति (जाना क्रिया फल लाने के लिए है) में तुमुनन्त 'आहर्तुं' का प्रयोग नहीं हुआ है किन्तु 'लाने के लिए' के अर्थ को प्रकट करता है और 'आहर्तुं' का कर्म 'फलानि' है अतः 'फल' शब्द में चतुर्थी विभक्ति हुई।

नमस्कुर्मो नृसिंहाय (नृसिंह के लिये नमस्कार करते हैं) का अर्थ है-नृसिंहम् अनुकूलयितुं नमस्कुर्मः (नृसिंह को अनुकूल बनाने के लिये नमस्कार करते हैं) में तुमुन् प्रत्ययान्त 'अनुकूलयितुम्' का भाव प्रकट हो रहा है, किन्तु उसका प्रयोग नहीं किया गया है और 'अनुकूलयितुम्' का कर्म नृसिंह है। अतः 'नृसिंह' में चतुर्थी विभक्ति हुई है।

इसी प्रकार 'स्वयम्भुवे नमस्कृत्य' (स्वयम्भू(ब्रह्मा) के लिये नमस्कार करके) का अर्थ है–स्वयम्भुवम् अनुकूलयितुम् नमस्कृत्य (ब्रह्मा को अनुकूल करने के लिये नमस्कार करके) इत्यादि वाक्यों में भी अप्रयुज्यमान तुमुन् प्रत्ययान्त क्रियापदों के कर्म में चतुर्थी विभक्ति होती है।

५१. तुमर्थाच्च भाववचनात् २।३।१५।।

'भाववचनाश्च' इति सूत्रेण यो विहितस्तदन्ताच्चतुर्थी स्यात्। यागाय याति। यष्टुं यातीत्यर्थः।

भाववाचक अर्थ प्रकट करने के लिये 'घञ्' आदि जिन प्रत्ययों का विधान 'तुमुन्' अर्थ में किया गया हो, उन 'घञ्' प्रत्ययान्त शब्दों से चतुर्थी विभक्ति होती है। जैसे–

यागाय याति (यज्ञ के लिये जाता है) इसका अर्थ है–यष्टुं याति (यज्ञ करने के लिए जाता है) में 'याग' शब्द 'यज्' धातु से तुमुन् प्रत्यय के अर्थ में 'घञ्' प्रत्यय करने पर बना है। यहाँ 'याग' तुमुन् के अर्थ में भाववाची 'घञ्' प्रत्ययान्त शब्द है तथा कर्म भी है। अतः 'याग' में चतुर्थी विभक्ति हुई है।

५२. नमः स्वस्तिस्वाहास्वधाऽलंवषड्योगाच्च २।३।१६।।

एभिर्योगे चतुर्थी स्यात्। हरये नमः।

नमः, स्वस्ति, स्वाहा, स्वधा, अलं तथा वषट् शब्दों के योग में चतुर्थी विभक्ति होती है। जैसे—

हरये नमः (हरि को नमस्कार) में नमः के योग में 'हरि' शब्द में चतुर्थी विभक्ति हुई है।

उपपदविभक्तेः कारकविभक्तिर्बलीयसी (परि०)

नमस्करोति देवान्। प्रजाभ्यः स्वस्ति। अग्नये स्वाहा। पितृभ्यः स्वधा। 'अलमिति पर्याप्त्यर्थग्रहणम्' तेन दैत्येभ्यो हरिरलम्, प्रभुः, समर्थः, शक्त इत्यादि। प्रभ्वादियोगे षष्ठ्यपि साधुः। 'तस्मै प्रभवति' ५।१।८।। 'स एषां ग्रामणीः' ५।२।७८।। इति निर्देशात्। तेन 'प्रभुर्बुभूषुर्भुवनत्रयस्य' इति सिद्धम्। वषडिन्द्राय। चकारः पुनर्विधानार्थः। तेन आशीर्विवक्षायां परामपि 'चतुर्थी चाशिषीति २।३।७३।। षष्ठीं इति बाधित्वा चतुर्थ्येव भवति। स्वाति गोभ्यो भूयात्।

उपपद विभक्ति से कारक विभक्ति बलवती होती है अर्थात् पद के सम्बन्ध से होने वाली विभक्ति से क्रिया के सम्बन्ध से होने वाली विभक्ति बलवती होती है। तात्पर्य यह है कि जब किसी एक ही स्थान में उपपदविभक्ति और कारक विभक्ति एक साथ प्रयुक्त होती हैं तब वहाँ उपपदविभक्ति की अपेक्षा कारक विभक्ति बलवती (प्रधान) होती है।

(नोट—क्रिया से सम्बन्धित कर्म आदि कारक अर्थों में जिस विभक्ति का विधान किया जाता है वह कारक विभक्ति कहलाती है। किन्तु उपपदविभक्ति क्रिया से भिन्न अन्य शब्दों के योग में होने वाली विभक्ति उपपद विभक्ति कहलाती है।)

जैसे—नमस्करोति देवान् (देवों को नमस्कार करता है) यहाँ 'नमः' के योग में चतुर्थी विभक्ति प्राप्त है किन्तु 'नमस्करोति' क्रिया का कर्म होने से 'देव' में कारक विभक्ति द्वितीया भी प्राप्त है। ऐसी स्थिति में उपपदविभक्ति न होकर कारक विभक्ति ही होगी।

प्रजाभ्यः स्वस्ति (प्रजाओं का कल्याण हो)

अग्नये स्वाहा (अग्नि के लिए स्वाहा)

पितृभ्यः स्वधा (पितरों के लिए अन्नादि)

इन वाक्यों में क्रमशः स्वस्ति, स्वाहा और स्वधा के योग में प्रजा, अग्नि और पितृ में चतुर्थी विभक्ति हुई है।

अलमिति—सूत्र में 'अलम्' शब्द से पर्याप्त (समर्थ, शक्त) अर्थ का ग्रहण किया गया है। 'अलम्' (पर्याप्त) अर्थ में चतुर्थी होती है।

जैसे—दैत्येभ्यो हरिरलं, प्रभुः समर्थः, शक्तः (दैत्यों के लिए हरि पर्याप्त हैं) में 'अलम्' (पर्याप्त) के योग में दैत्य में चतुर्थी विभक्ति हुई है।

प्रभु आदि योगे इति–प्रभु आदि शब्दों के योग में षष्ठी विभक्ति भी साधु है। जैसे–तस्मै प्रभवति में प्रभु के योग में चतुर्थी है (किन्तु स एषां ग्रामणी: में एषां में षष्ठी है। इसी कारण 'प्रभुबुर्भूषुर्भुवनत्रयस्य' में 'भुवनत्रयस्य' में षष्ठी का प्रयोग उचित है।

'वषड् इन्द्राय' (इन्द्र को वषट्) यहाँ वषट् के योग में 'इन्द्र' में चतुर्थी विभक्ति हुई है।

'च' का अर्थ है कि इन शब्दों के योग में चतुर्थी होगी, षष्ठी नहीं।

चतुर्थी चाशिषि० १.३.७३ से चतुर्थी एवं षष्ठी दोनों विभक्तियाँ विकल्प से होती है। अष्टाध्यायी में चतुर्थी चाशिषि० यह सूत्र नमः स्वस्ति० के बाद है और 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' यह कहता है कि दो तुल्य नियमों के विरोध होने पर बाद में आये हुए नियम के अनुसार ही कार्य होता है। अतः आशीर्वाचक 'स्वस्ति' के योग में षष्ठी को बाधकर केवल चतुर्थी ही होगी। इसका कारण यहाँ 'च' का अर्थ ही है।

जैसे–स्वस्ति गोभ्यो भूयात् (गायों का कल्याण हो) में 'स्वस्ति' के योग में 'नमः स्वस्ति०' से चतुर्थी प्राप्त है और आशीर्वाद का वाक्य होने के कारण 'चतुर्थी चाशिषि०' से चतुर्थी के साथ षष्ठी भी प्राप्त है, किन्तु 'च' के बल से 'स्वस्ति' के योग में केवल चतुर्थी ही होती है षष्ठी नहीं।

५३. मन्यकर्मण्यनादरे विभाषाऽप्राणिषु २।३।१७।।

प्राणिवर्जे मन्यते कर्मणि चतुर्थी वा स्यात् तिरस्कारे। न त्वां तृणं मन्ये तृणाय वा। श्यना निर्देशात् तानादिकयोगे न। न त्वां तृणं मन्वे।

अनादर या तिरस्कार का भाव प्रकट करने के लिए 'मन्' (समझना, दिवादिगण) धातु के कर्म में, यदि वह प्राणी न हो, तो विकल्प से चतुर्थी विभक्ति होती है और पक्ष में द्वितीया होती है। जैसे–

न त्वां तृणं तृणाय वा मन्ये (मैं तुम्हें तिनके के बराबर भी नहीं समझता) यहाँ 'मन्' धातु का प्रयोग तिरस्कार अर्थ में हुआ है, अतः 'मन्' धातु के कर्म 'तृण' में जो कि प्राणी वाचक नहीं है, विकल्प से चतुर्थी विभक्ति हुई है तथा पक्ष में 'मन्' धातु का कर्म होने से द्वितीया विभक्ति भी हुई।

श्यनेति–यहाँ श्यन् कहने का तात्पर्य यह है कि केवल दिवादिगण की 'मन्' धातु के साथ ही चतुर्थी होगी न कि तनादिगण की 'मन्' धातु के साथ(क्योंकि दिवादिगण के 'मन्' के बाद श्यन् (य) का विकरण होने पर मन्यते बनता है। जबकि तनादिगण के 'मन्' के बाद 'उ' का विकरण होने पर मनुते बनता है। तनादिगण 'मन्' धातु के कर्म में केवल द्वितीया होती है। जैस–न त्वां तृणं मन्वे में क्रियापद तनादिगण की है, अतः 'तृण' में द्वितीया विभक्ति हुई।

अप्राणिषु इत्यपनीय 'नौकाकान्नशुकशृगालवर्जेष्विति वाच्यम्' (वार्तिक) तेन 'न त्वां नावमन्नं वा मन्ये' इत्यत्र अप्राणित्वेऽपि चतुर्थी न। 'न त्वां शुने मन्ये' इत्यत्र प्राणित्वेऽपि भवत्येव।

प्रस्तुत वार्तिक में अप्राणिषु के स्थान पर 'नौकाकान्नशुकशृगालवर्जेषु' पद को कहना चाहिए अर्थात् प्राणिभिन्न न कहकर नौ (नाव), काक (कौआ), अन्न, शुक (तोता), शृंगाल (सियार) को छोड़कर, अन्य यदि 'मन्' धातु के कर्म हों, तभी विकल्प से चतुर्थी होगी। जैसे—

न त्वां नावमन्नं वा मन्ये (तुमको नाव या अन्न नहीं समझता) यहाँ अप्राणी (नाव, अन्न) होने के कारण सूत्र के अनुसार 'नौ, अन्न' से चतुर्थी प्राप्त है किन्तु प्रस्तुत वार्तिक से 'नौ, अन्न' में चतुर्थी नहीं होती।

न त्वां शुने मन्ये (तुझे कुत्ता भी नहीं समझता) यहाँ 'श्वन्' (कुत्ता) प्राणीवाचक है, सूत्र के अनुसार चतुर्थी प्राप्त नहीं है किन्तु इस वार्तिक से 'श्वन्' का निषेध न होने से और प्राणिवाचक होने पर भी चतुर्थी हो जाती है।

५४. गत्यर्थकर्मणि द्वितीयाचतुर्थ्यौ चेष्टायामनध्वनि २।३।१२।।

अध्वभिन्ने गत्यर्थानां कर्मण्येते स्तश्चेष्टायाम्। ग्रामं ग्रामाय वा गच्छति। चेष्टायां किम? मनसा हरिं गच्छति। 'अनध्वनि' इति किम ? पन्थानं गच्छति। गन्त्राऽधिष्ठिते अध्वन्येवायं निषेधः। यदा 'तु उत्पथात् पन्था एवाक्रमितुमिष्यते' तदा चतुर्थी भवत्येव। उत्पथेन पथे गच्छति।

शारीरिक चेष्टा होने पर गति (चलना) अर्थ वाली धातु के मार्गरहित (मार्ग कर्म न हो) कर्म में द्वितीया और चतुर्थी विभक्ति होती है।

तात्पर्य यह है कि जब गति अर्थवाली (गम्, चल्, व्रज आदि) धातुओं का कर्म मार्गवाची न हो और क्रिया के करने में शारीरिक चेष्टा करनी पड़े तो इनके कर्म में द्वितीया और चतुर्थी दोनों विभक्तियाँ होती है। जैसे—

ग्रामं ग्रामाय वा गच्छति (गाँव को जाता है) यहाँ गत्यर्थक 'गम्' धातु का प्रयोग है, 'ग्राम' जो उसका कर्म है वह मार्गवाची भी नहीं है। कर्त्ता को गमन क्रिया में शारीरिक चेष्टा भी करनी पड़ रही है। अतः 'ग्राम' में द्वितीया और चतुर्थी दोनों विभक्तियाँ हुई हैं।

चेष्टायां किमिति—चेष्टा होने पर ही क्यों ? वह इसलिये कि जहाँ शारीरिक व्यापार नहीं करना पड़ता वहाँ केवल द्वितीया विभक्ति ही होती है। जैसे—मनसा हरिं व्रजति (मन से हरि के पास जाता है) यहाँ 'व्रज' गत्यर्थक क्रिया होने पर भी शारीरिक चेष्टा नहीं है, बल्कि मानसिक चेष्टा है इसी कारण 'हरिम्' में चतुर्थी न होकर द्वितीया विभक्ति होगी।

अनध्वनीति—मार्गवाचक न होने पर ही क्यों कहा गया है ? ऐसा इसलिये कि गति अर्थ वाली धातु का कर्म अध्वन् (मार्ग) होता है तो कर्म में केवल द्वितीया ही होती है, चतुर्थी नहीं होती। जैसे—

पन्थानं गच्छति (मार्ग पर चलता है) यहाँ 'गम्' धातु का कर्म पथिन् मार्गवाची है, इसलिए उससे चतुर्थी विभक्ति न होकर केवल द्वितीया विभक्ति ही हुई।

गन्त्राधिष्ठिते इति—जब जाने वाला व्यक्ति स्वयं अपने अभीष्ट मार्ग पर चलता है तो मार्गवाची शब्दों से चतुर्थी का निषेध होता है; लेकिन जब उत्पथ (कुमार्ग) से जाने में असमर्थ होकर गमनकर्त्ता उसे छोड़कर इष्टमार्ग या सत्मार्ग की ओर जाता है, तो मार्गवाची शब्द से चतुर्थी होती है। जैसे—

उत्पथेन पथे गच्छति (अनिष्ट मार्ग से इष्टमार्ग पर चलता है) यहाँ 'पथिन्' मार्गवाची है पर गमनकर्त्ता इष्टमार्ग पर आया नहीं अपितु आने की चेष्टा कर रहा है। अत: 'पथिन्' चतुर्थी विभक्ति हुई।

इति चतुर्थी।

५. पंचमी

५५. ध्रुवमपायेऽपादानम् १।४।२४।।

अपायो विश्लेष:, तस्मिन् साध्ये ध्रुवमवधिभूतं कारकमपादानं स्यात्।

अपाय का अर्थ है विश्लेष (अलग होना)। ध्रुव का अर्थ है स्थिर, निश्चित, अवधिभूत। किसी पदार्थ के अलग होने में जो कारक ध्रुव या अवधिभूत अर्थात् जहाँ से विश्लेष या अलगाव हो वह अपादान कहलाता है। अप+आ+दान-हटना, अलग होना। ध्रुव–स्थिर, वह वस्तु जिससे कोई वस्तु अलग हो (अवधिभूत)। जैसे—

धावत: अश्वात् पतति (दौड़ते हुए घोड़े से गिरता है) यहाँ घोड़ा स्थिर नहीं, दौड़ता हुआ है इस अर्थ में 'ध्रुव' है अर्थात् वह पतन क्रिया के प्रति अवधिभूत है। अत: 'अश्व' में अपादान कारक होता है।

भर्तृहरि कृत् वाक्यपदीय में अपादान की परिभाषा इस प्रकार है—

'अपाये यदुदासीन चलं वा यदि वाचलम्।
ध्रवमेवातदावेशात् तदपादानमुच्यते'।

अर्थात् अपाय (अलग) होने में जो उदासीन हो, अपाय उत्पन्न करने वाली क्रिया का आश्रय न हो, वह चाहे चल हो या अचल ध्रुव ही कहलाता है। अत: उसकी अपादान संज्ञा होती है।

५६. अपादाने पंचमी २।३।२८।।

ग्रामादायाति। धावतोऽश्वात् पतति। कारकं किम्? वृक्षस्य पर्णं पतति।

अपादान में पंचमी विभक्ति होती है। जैसे- ग्रामादायाति (ग्राम से आता है) यहाँ 'ग्राम' से अलग होना पाया जाता है, अत: 'ग्राम' अवधिभूत है, ध्रुव है। इसलिए 'ग्राम' में 'ध्रवमपायेऽपादानम्' से अपादानसंज्ञा और 'अपादाने पंचमी' से पंचमी विभक्ति हुई है।

इसी प्रकार धावतोऽश्वात् पतति (दौड़ते हुए घोड़े से गिरता है) यहाँ पतन क्रिया के द्वारा घोड़े से अलग होना पाया जा रहा है अत: अश्व अवधिभूत या ध्रुव होने के कारण 'ध्रवमपायेऽपादानम्' से अपादानसंज्ञा और 'अपादाने पंचमी' से पंचमी विभक्ति हुई है।

कारकं किमिति–सूत्र में कारक क्यों कहा? वह इसलिये कि जिसका क्रिया से साक्षात् सम्बन्ध नहीं होता है, उसकी अपादान संज्ञा नहीं होती है। जैसे–

वृक्षस्य पर्ण पतति (वृक्ष का पत्ता गिरता है) यहाँ 'वृक्ष' का पतन क्रिया के साथ साक्षात् सम्बन्ध न होकर 'पर्ण के साथ है'। अतः वृक्ष कारक ही नहीं है। फलतः 'वृक्ष' की अपादान संज्ञा नहीं हुई, बल्कि सम्बन्ध होने से षष्ठी विभक्ति हुई है।

जुगुप्साविरामप्रमादार्थानामुपसंख्यानम् (वार्तिक)।

पापात् जुगुप्सते, विरमति। धर्मात्प्रमाद्यति।

जुगुप्सा (घृणा), विराम (विरति, रुकना, हटना), प्रमाद (भूल या असावधानी) इनके और इनके समान अर्थ वाली धातुओं के योग में जिसके प्रति जुगुप्सा आदि किया जाता है, या दूर हटा जाता है या जिसके विषय में भूल या असावधानी होती है, उसमें पंचमी विभक्ति होती है। जैसे–

पापात् जुगुप्सते (पाप से घृणा करता है), पापात् विरमति (पाप से बचता है), धर्मात् प्रमाद्यति (धर्म से प्रमाद करता है) इन उदाहरणों में क्रमशः पाप तथा धर्म में जुगुप्सा, विराम और प्रमाद होने के कारण, इनके योग में पाप और धर्म की अपादान संज्ञा होकर पंचमी विभक्ति हुई है।

५७. भीत्रार्थानां भयहेतुः १।४।२५।।

भयार्थानां त्राणार्थानां च प्रयोगे भयहेतुरपादानं स्यात्। चौराद् बिभेति। चौरात् त्रायते। भयहेतुः किम ?अरण्ये बिभेति त्रायते वा।

भी (भय) और त्रै (रक्षा) अर्थ वाली धातुओं के योग में जो भय का कारण हो या जिससे रक्षा करनी हो उसकी अपादान संज्ञा होती है। जैसे–

चौराद् बिभेति (चोर से डरता है) और चौरात् त्रायते (चोर से रक्षा करता है) इन वाक्यों में 'चोर' भय और रक्षा का हेतु है। अतः 'चोर' में पंचमी विभक्ति हुई।

भयहेतु किमिति–भय के हेतु में ही पंचमी क्यों कहा ? क्योंकि यदि भय का हेतु न कहा जाता तो 'अरण्ये बिभेति त्रायते वा (वन में डरता है या रक्षा करता है) इन वाक्यों में 'अरण्य' की अपादान संज्ञा हो जाती, किन्तु यहाँ 'अरण्य' की अपादान संज्ञा नही हुई क्योंकि भय का हेतु 'अरण्य' नहीं बल्कि अरण्य में रहने वाला सिंह, व्याघ्र आदि है। हाँ यदि भय का हेतु अरण्य ही होता तो अरण्य में भी अपादान हो जाता।

५८. पराजेरसोढः १।४।२६।।

पराजेः प्रयोगेऽसह्योऽर्थोऽपादानं स्यात्। अध्ययनात् पराजयते। ग्लायतीत्यर्थः। असोढः किम् ? शत्रून् पराजयते, अभिभवति इत्यर्थः।

'परा' पूर्वक 'जि' धातु के प्रयोग में जो असह्य होता है उसकी अपादान संज्ञा होती है। जैसे–अध्ययनात् पराजयते (अध्ययन से भागता है या हार मानता है) यहाँ 'परा' पूर्वक 'जि' का प्रयोग हुआ है और अध्ययन भी असह्य या कष्टकर हो गया है। अतः अध्ययन की अपादान संज्ञा होकर 'अपादाने पंचमी' से पंचमी विभक्ति हुई है।

असोढः किमिति—असह्य पदार्थ की ही अपादान संज्ञा क्यों हो ? क्योंकि यदि पदार्थ असह्य नहीं होगा तो उसकी अपादान भी संज्ञा नहीं होगी। जैसे—

शत्रून् पराजयते (शत्रुओं को हराता है) में 'परा' पूर्वक 'जि' धातु का प्रयोग होने पर भी 'शत्रु' की अपादान संज्ञा नहीं हुई, क्योंकि वह असह्य नहीं है, अतः 'शत्रून्' में द्वितीया हुई है।

५९. वारणार्थानामीप्सितः १।४।२७।।

प्रवृत्तिविघातो वारणम्। वारणार्थानां धातूनां प्रयोगे ईप्सितोऽर्थोऽपादानं स्यात्। यवेभ्यो गां वारयति। ईप्सितः किम्? यवेभ्यो गां वारयति क्षेत्रे।

वारण (रोकने) अर्थ वाली धातुओं के प्रयोग में जो पदार्थ ईप्सित (इष्ट) हो अर्थात् जिससे हटाने की चाह हो, उसकी अपादान संज्ञा होती है। जैसे—

यवेभ्यो गां वारयति (यवों से गाय को हटाता है) यहाँ वारणकर्त्ता गाय को 'यव' (जौ) से हटाना चाहता है। अतः 'वारि' धातु के प्रयोग में वारणकर्त्ता का इष्ट 'यव' की अपादान संज्ञा होकर उसमें पंचमी विभक्ति हुई है।

ईप्सितः किम्—ईप्सित क्यों कहा अर्थात् कर्त्ता के इष्ट की ही अपादान संज्ञा क्यों? क्योंकि जो ईप्सित नहीं होगा उसकी अपादान संज्ञा भी नहीं होगी। जैसे—

यवेभ्यो गां वारयति क्षेत्रे (खेत में गाय को जौ से हटाता है) यहाँ कर्त्ता का इष्ट 'यव' है, 'क्षेत्र' नहीं। अतः 'क्षेत्र' की अपादान संज्ञा नहीं हुई अपितु अधिकरण होने से सप्तमी हुई है।

६०. अन्तर्धौ येनादर्शनमिच्छति १।४।२८।।

व्यवधाने सति यत्कर्तृकस्यात्मनो दर्शनस्याभावमिच्छति तदपादानं स्यात्। मातुर्निलीयते कृष्णः। अन्तर्धौ किम्? चौरान् न दिदृक्षते। इच्छतिग्रहणं किम् ? अदर्शनेच्छायां सत्यां सत्यपि दर्शने यथा स्यात् देवदत्ताद् यज्ञदत्तो निलीयते।

जब 'अन्तर्धौ' अर्थात् व्यवधान होने पर छिपने वाला जिससे अपने को छिपाना चाहता है या जिससे अदर्शन चाहता है, उसकी अपादान संज्ञा होती है। जैसे—

मातुः निलीयते कृष्ण (कृष्ण माता से छिपता है) यहाँ कृष्ण अपने को दिवार आदि का व्यवधान करके 'माता' से छिपाना चाहता है, अतः 'मातृ' की अपादान संज्ञा होकर पंचमी विभक्ति हुई।

अन्तर्धौ किम्—छिपने के ही अर्थ में अपादान क्यों कहा ? क्योंकि किसी वस्तु का व्यवधान होने पर ही अपादान संज्ञा होती है, व्यवधान के अभाव में नहीं। जैसे—

चौरान् न दिदृक्षते (चोरों को देखना नहीं चाहता है) यहाँ कर्त्ता स्वयं नहीं छिपता है, अपितु चोर मुझे देख न ले इस विचार से चोरों को देखना नहीं चाहता है। इसलिए 'चोरान्' कर्म कारक हुआ है।

इच्छति ग्रहणं किमिति—सूत्र में 'इच्छति' का ग्रहण क्यों किया? इसका उत्तर है— यदि कोई व्यक्ति छिपने की इच्छा रखते हुए भी देख लिया जाता है, तब भी पंचमी ही होगी।

जैसे—देवदत्तात् यज्ञदत्तो निलीयते (देवदत्त से यज्ञदत्त छिपता है) यहाँ 'देवदत्त' से यज्ञदत्त छिपना चाहता है किन्तु देवदत्त देख लेता है, फिर भी 'देवदत्त' में पंचमी हुई।

६१. आख्यातोपयोगे १।४।२९।।

नियमपूर्वकविद्यास्वीकारे वक्ता प्राक्संज्ञः स्यात्। उपाध्यायादधीते। उपयोगे किम्? नटस्य गाथां शृणोति।

जिस गुरु या व्यक्ति से नियमपूर्वक कुछ पढ़ा जाता है, तो पढ़ाने वाले, वक्ता या गुरु की अपादान संज्ञा होती है। उपयोग का अर्थ है—नियमपूर्वक विद्या ग्रहण करना।

जैसे—उपाध्यायाद् अधीते (उपाध्याय से पढ़ता है) यहाँ शिष्य 'उपाध्याय' से नियमपूर्वक विद्या ग्रहण करता है, अतः 'उपाध्याय' की अपादान संज्ञा होकर पंचमी विभक्ति हुई।

उपयोगे किम्—उपयोग अर्थात् नियमपूर्वक शिक्षा ग्रहण करने की ही अपादान संज्ञा क्यों? क्योंकि जहाँ नियमपूर्वक शिक्षा ग्रहण की जाती है, वहीं 'अख्याता' की अपादान संज्ञा होती है अन्यत्र नहीं।

जैसे—नटस्य गाथां शृणोति (नट के गीत को सुनता है) यहाँ 'नट' नियमपूर्वक गाथा (गीत) नहीं सुन रहा है। अतः उपयोग के अभाव में 'नट' की अपादान संज्ञा नहीं हुई अपितु सम्बन्ध होने से षष्ठी विभक्ति हुई है।

६२. जनिकर्तुः प्रकृतिः १।४।३०।।

जायमानस्य हेतुरपादानं स्यात्। ब्रह्मणः प्रजा प्रजायन्ते।

'जन्' (उत्पन्न होना) धातु के कर्त्ता का जो मूल कारण होता है, उसमें पंचमी विभक्ति होती है।

जैसे—ब्रह्मणः प्रजा प्रजायन्ते (ब्रह्मा से प्रजायें उत्पन्न होती हैं) यहाँ जायमान प्रजा के उत्पत्ति का मूल कारण 'ब्रह्म' है, अतः 'ब्रह्म' की अपादान संज्ञा हुई और 'अपादाने पंचमी' से पंचमी विभक्ति हुई है।

६३. भुवः प्रभवः १।४।३१।।

भवनं भूः। भूकर्तुः प्रभवस्तथा। हिमवतो गंगा प्रभवति। तत्र प्रकाशते इत्यर्थः।

'भू' अर्थात् उत्पन्न होने वाले का जो 'प्रभव' (प्रथम प्रकाश) अर्थात् उत्पत्ति स्थान होता है, उसकी अपादान संज्ञा होती है। जैसे—

हिमवतो गंगा प्रभवति (हिमालय से गंगा निकलती है) यहाँ 'भू' का कर्त्ता गंगा है, और गंगा का उत्पत्ति स्थान 'हिमवान्' है, अतः 'हिमवान्' की अपादान संज्ञा होकर पंचमी विभक्ति हुई।

ल्यब्लोपे कर्मण्यधिकरणे च (वार्तिक)

प्रासादात् प्रेक्षते। आसनात् प्रेक्षते। प्रासादमारुह्य, आसने उपविश्य प्रेक्षते इत्यर्थः। श्वशुराज्जिह्रेति। श्वशुरं वीक्ष्यत्येर्थः।

जब ल्यप् (प्रेक्ष्य, आनीय आदि) प्रत्ययान्त क्रिया वाक्य में प्रकट नहीं की जाती है, किन्तु छिपी रहती है अर्थात् उसके भाव प्रकट होते हों, तो उसके कर्म और अधिकरण में पंचमी विभक्ति होती है।

जैसे—प्रासादात् प्रेक्षते (महल से देखता है), आसनात् प्रेक्षते (आसन से देखता है) यहाँ इन दोनों वाक्यों का क्रमशः अर्थ है 'प्रासादमारुह्य प्रेक्षते (महल पर चढ़कर देखता है), 'आसने उपविश्य प्रेक्षते (आसन पर बैठकर देखता है) उपर्युक्त दोनों वाक्यों में 'ल्यप्' प्रत्ययान्त क्रिया 'आरुह्य' और 'उपविश्य' वाक्य में प्रकट नहीं किया गया है पर उनके भाव वहाँ प्रकट हो रहे हैं, अतः 'आरुह्य' के कर्म 'प्रासाद' में और 'उपविश्य' के अधिकरण 'आसन' में पंचमी विभक्ति हुई।

इसी प्रकार 'श्वसुरात् जिह्रेति' (श्वशुर से लज्जा करती है) का अर्थ है श्वसुरं वीक्ष्य जिह्रेति (श्वसुर को देखकर लज्जा करती है) में ल्यप् प्रत्ययान्त 'वीक्ष्य' का लोप होने के कारण उसके कर्म 'श्वसुर' में द्वितीया न होकर पंचमी हुई।

गम्यमानापि क्रियाकारकविभक्तीनां निमित्तम् (वार्तिक)

कस्मात् त्वम्? नद्याः। जिस क्रिया का वाक्य

गम्यमाना क्रिया भी कारक विभक्तियों के निमित्त होती है। जिस क्रिया का वाक्य में प्रयोग नहीं होता, केवल प्रकरण आदि के द्वारा ही जान ली जाती है तो ऐसी क्रिया को गम्यमाना क्रिया कहते हैं। इस प्रकार प्रकरण आदि से जिस क्रिया का बोध होता है, उसके योग में भी कारक विभक्ति आती है। जैसे—

कस्मात् त्वम् (कहाँ से आये हो तुम?) उत्तर—नद्याः (नदी से) यहाँ 'कस्मात्' इस प्रकरण आदि से आना (आगमन) क्रिया का बोध हो रहा है तथा 'नद्याः' के प्रकरण से भी 'आगतोऽसि' गम्यमान क्रिया का बोध हो रहा है। अतः उसके निमित्त से 'कस्मात्' और 'नद्याः' में पंचमी विभक्ति हुई है।

यतश्चाध्वकालनिर्माणं तत्र पंचमी (वार्तिक)

जिस स्थान या समय से (आरम्भ कर) किसी दूसरे स्थान या समय की दूरी दिखलायी जाती है, वह स्थान या समय पंचमी विभक्ति में रखा जाता है।

तद्युक्तादध्वनः प्रथमासप्तम्यौ (वार्तिक)

उस पंचम्यन्त वाचक अर्थात् उस स्थान की दूरी बताने वाले शब्द में प्रथमा और सप्तमी विभक्ति होती है।

कालात् सप्तमी वक्तव्या (वार्तिक)

कार्तिक्या आग्रहायणी मासे।

वनाद् ग्रामो योजनं योजने वा।

उस पंचम्यन्त समय वाचक शब्द से सप्तमी विभक्ति कहनी चाहिए। तात्पर्य यह है कि नापे गये काल में सप्तमी होती है नापे गये मार्ग में प्रथमा या सप्तमी होती है। जैसे—

वनाद् ग्रामो योजनं योजने वा (वन से गाँव एक योजन है) यहाँ एक स्थान वन से दूसरे स्थान ग्राम की दूरी बताई गई है, अतः **यतश्चाध्वकालनिर्माणं तत्र पंचमी** से वन में पंचमी विभक्ति हुई और पंचम्यन्त 'वनात्' शब्द से युक्त मार्ग की दूरी बतलाने वाले मार्गवाचक 'योजन' में **तद्युक्तादध्वनः प्रथमासप्तम्यौ (वार्तिक)** से प्रथमा और सप्तमी विभक्तियाँ हुई हैं।

कार्तिक्या आग्रहायणी मासे (कार्तिक की पूर्णिमा से अगहन की पूर्णिमा एक महीने पर होती है) में एक समय से दूसरे समय का अन्तर बताया गया है, अतः **यतश्चाध्वकालनिर्माणं तत्र पंचमी** से 'कार्तिक' में पंचमी विभक्ति हुई और पंचम्यन्त 'कार्तिक्याः' शब्द से युक्त समय का अन्तर बतलाने वाले कालवाचक 'मास' में **कालात् सप्तमी वक्तव्या (वार्तिक)** से सप्तमी विभक्ति हुई।

६४. अन्यारादितरर्तेदिक्शब्दाञ्चूत्तरपदाजाहियुक्ते २।३।२९।।

एतैर्योगे पंचमी स्यात्। 'अन्य' इत्यर्थग्रहणम्। इतरग्रहणं प्रपञ्चार्थम् अन्यो भिन्न इतरो वा कृष्णात्। आराद्वनात्। ऋते कृष्णात्। पूर्वो ग्रामात्। दिशि दृष्टः शब्दो दिक्शब्दः। तेन सम्प्रति देशकालवृत्तिना योगेऽपि भवति। चैत्रात् पूर्वः फाल्गुनः। अवयववाचियोगे तु न। तस्य 'परमाम्रेडितम्' ८।१।२।। इति निर्देशात्। पूर्वं कायस्य। अञ्चूत्तरपदस्य तु दिक्शब्दत्वेऽपि 'षष्ठ्यतसर्थ०' २।३।३०।। इति षष्ठीं बाधितुं पृथग्ग्रहणम्। प्राक्-प्रत्यग्वा ग्रामात्। आच्-दक्षिणा ग्रामात्। आहि-दक्षिणाहि ग्रामात्। 'अपादाने पंचमी' २।३।२८।। इति सूत्रे 'कार्तिक्याः प्रभृति' इति भाष्यप्रयोगात् प्रभृत्यर्थयोगे पंचमी। भावात् प्रभृति-आरभ्य वा सेव्यो हरिः।

अन्य (भिन्न), आरात् (निकट या दूर), इतर (भिन्न), ऋते (बिना), दिशावाची शब्द, 'अञ्चू' धातु से बने हुए दिग्वाचक प्रत्यक्, उदक् शब्द आदि, आच् प्रत्ययान्त शब्द दक्षिणा, उत्तरा आदि शब्द तथा आहि प्रत्ययान्त दक्षिणाहि, उत्तराहि आदि शब्दों के योग में पंचमी विभक्ति होती है।

यहाँ सूत्र के 'अन्य' पद से तदर्थवाची अर्थात् उस अर्थ के बोधक भिन्न, इतर, पर, अपर आदि का भी ग्रहण होता है। अन्यार्थक में 'इतर' शब्द का भी ग्रहण हुआ है। इसका पृथक ग्रहण केवल प्रपञ्च (विस्तार) के लिये किया गया है। अथवा अनावश्यक ही है। जैसे—

अन्यो इतरो वा कृष्णात्(कृष्ण से भिन्न) में अन्यार्थक 'अन्य' आदि के योग में 'कृष्ण' में पञ्चमी विभक्ति हुई है।

इसी प्रकार—

आरात् वनात् (वन से दूर या पास)

ऋते कृष्णात् (कृष्ण के बिना)

पूर्वो ग्रामात् (गाँव से पूर्व)

उपर्युक्त इन उदाहरण वाक्यों में आरात्, ऋते तथा दिशावाची पूर्व शब्दों के योग में वन, कृष्ण तथा ग्राम में पञ्चमी विभक्ति हुई है।

सूत्र में दिक् शब्द का अर्थ है दिशा में देखा गया शब्द। जो पहले दिशा के लिये प्रयुक्त होता है किन्तु इस समय देश या काल में प्रयुक्त होने पर भी पञ्चमी विभक्ति होती है।

जैसे—चैत्रात् पूर्वः फाल्गुनः (चैत्र से पहले फाल्गुन होता है) यहाँ 'पूर्व' शब्द जो पहले कालवाचक रहा है किन्तु 'दिशा' शब्द होने के कारण इसके योग में भी पञ्चमी विभक्ति हुई।

अवयवेति—अवयववाची पूर्व, पर, उत्तर आदि 'दिक्' शब्दों के योग में पञ्चमी विभक्ति नहीं होती है। वहाँ पाणिनि के सूत्र 'तस्य परमाम्रेडितम्' से 'पर' के योग में तत् (तस्य) में पञ्चमी न होकर षष्ठी होती है। जैसेः- तस्य परम् में परम् के योग में तस्य में षष्ठी ही हुई, पञ्चमी नहीं। इसी प्रकार 'पूर्व कायस्य' (शरीर का अगला भाग) यहाँ 'पूर्व' देश वाचक या कालवाचक नहीं है, अपितु शरीर के एक अवयव का बोध कराता है। अतः पूर्व के योग में 'काय' पञ्चमी न होकर षष्ठी विभक्ति हुई।

अञ्चूत्तरपदस्येति—जिन शब्दों के उत्तरपद में अञ्चू धातु है, वे शब्द प्राक्, प्रत्यक्, उदीच आदि दिशावाची शब्द हैं। अतः इनके भी योग में पञ्चमी ही होती है। तो फिर सूत्र में पृथक ग्रहण करने का क्या उद्‌देश्य है? वह इसलिये कि जो 'षष्ठ्यतसर्थप्रत्ययेन' २।३।३०।। सूत्र से षष्ठी का नियम बताया गया है, उसका बाध हो सके। जैसे—

प्राक् प्रत्यक् वा गामात् (गाँव से पूर्व या पश्चिम) में अञ्चू धातु से बने दिशावाची शब्द के योग में प्राक्, प्रत्यक् के योग में 'ग्राम' में पञ्चमी विभक्ति हुई।

आच् का उदाहरण—दक्षिणा ग्रामात् (गाँव से दक्षिण) यहाँ 'दक्षिणा' आच् प्रत्ययान्त है। अतः दक्षिणा के योग में 'ग्राम' में पञ्चमी विभक्ति हुई। इसी प्रकार आहि प्रत्ययान्त के उदाहरण जैसे—दक्षिणाहि ग्रामात् (गाँव से दूर दक्षिण दिशा में) में आहि के योग में 'ग्राम' में पञ्चमी हुई।

आच् और अति प्रत्ययान्त शब्द भी यद्यपि दिशावाची हैं तथापि 'षष्ठ्यतसर्थप्रत्ययेन' से प्राप्त षष्ठी का बाध करने के लिए सूत्र में इसका पृथक् ग्रहण किया है।

'अपादाने पञ्चमी' इति सूत्रे 'कार्तिक्या प्रभृति' इति भाष्यप्रयोगात्प्रभृत्यर्थयोगे पञ्चमी। भावात् प्रभृति, आरभ्य वा सेव्यो हरिः।

'अपादाने पञ्चमी' सूत्र की व्याख्या करते हुए महाभाष्यकार ने 'कार्तिक्याः प्रभृति' का प्रयोग किया है। इससे सूचित होता है कि 'प्रभृति' तथा प्रभृति अर्थ वाले शब्दों के योग में प्रयुक्त होने वाले 'आरभ्य' (प्रारम्भ करके) आदि शब्दों के योग में भी पञ्चमी होती है।

जैसे—'भावात् प्रभृति आरभ्य वा सेव्यो हरिः (जन्म से प्रारम्भ करके सभी के द्वारा हरि पूजनीय हैं) में 'प्रभृति' के योग में 'भव' में पञ्चमी हुई है।

'अपरिबहिः २।१।१२।। इति समासविधानाज्ज्ञापकात् बहिर्योगे पंचमी। ग्रामाद् बहिः।

'अपपरिबहिरञ्चवः पञ्चम्या २।१।१२।। सूत्र से 'बहिः' का पञ्चम्यन्त के साथ समास का विधान किया गया है। पञ्चमी समास होने के कारण ज्ञापन से 'बहिः' के योग में पञ्चमी विभक्ति होती है। जैसे—ग्रामाद् बहिः (गाँव से बाहर) यहाँ 'बहिः' के योग में 'ग्राम' में पञ्चमी विभक्ति हुई है।

६५. अपपरी वर्जने १।४।८८।।

एतौ वर्जने कर्मप्रवचनीयौ स्तः।

वर्जन (छोड़ना या दूर करना) अर्थ में 'अप' और 'परि' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है।

६६. आङ्मर्यादावचने १।४।८९।।

आङ्मर्यादायामुक्तसंज्ञः स्यात्। वचनग्रहणादभिविधावपि।

मर्यादा अर्थ में 'आङ्' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है। वचन शब्द दोनों ओर की मर्यादा बताने के अर्थ में द्विवचन में प्रयुक्त हुआ है। सूत्र में 'मर्यादायाम्' न कहकर 'मर्यादावचन' कहा है अर्थात् वचन शब्द का अधिक ग्रहण किया गया है। यहाँ वचन शब्द के ग्रहण से 'अभिविधि' भी ग्रहण होता है। इस प्रकार कह सकते हैं कि मर्यादा और अभिविधि दोनों अर्थों में 'आङ्' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है। जैसे—

मर्यादा अर्थ में—आ पाटलिपुत्राद् वृष्टो देवः (पाटलिपुत्र तक वर्षा हुई-पाटलिपुत्र को छोड़कर) यहाँ मर्यादा अर्थ में 'आङ्' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा हुई। 'पञ्चम्यापाङ् परिभिः' से पाटलिपुत्र में पञ्चमी हुई।

अभिविधि अर्थ में—आसकलाद् ब्रह्म (सब ब्रह्म तक है) में अभिविधि के अर्थ में 'आङ्' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होकर 'आसकलाद्' में पञ्चमी विभक्ति हुई।

६७. पञ्चम्यपाङ्परिभिः २।३।१०।।

एतैः कर्मप्रवचनीयैर्योगे पञ्चमी स्यात्। अप हरेः, परि हरेः संसारः। परिरत्र वर्जने। लक्षणादौ तु हरिं प्रति। आ मुक्तेः संसार। आ सकलाद् ब्रह्म।

कर्मप्रवचनीय संज्ञक अप, आङ्, और परि के योग में पञ्चमी विभक्ति होती है।

जैसे—अपहरेः परिहरेः संसारः (हरि को छोड़कर जन्म मरणादिरूप सुख दुःखात्मक संसार है) यहाँ 'अप', 'परि' वर्जन अर्थ में है, अतः इनकी 'अपपरी वर्जने' से कर्मप्रवचनीय संज्ञा होकर प्रस्तुत सूत्र से 'हरेः' में पञ्चमी विभक्ति हुई है।

परिरत्र वर्जने इति—जहाँ 'परि' शब्द लक्षण अर्थ में होगा तो वहाँ इसकी 'लक्षणेत्थंभूताख्यान १.४.९० से कर्मप्रवचनीय संज्ञा होकर इसके योग में 'कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया २.३.८ से द्वितीया विभक्ति ही होगी पञ्चमी नहीं।

जैसे—हरिं परि (हरि विषयक भक्ति से युक्त) में 'हरिम्' द्वितीया ही हुई है, पञ्चमी नहीं। आमुक्तेः संसारः (मुक्ति तक अर्थात् मुक्ति तक संसार है) यहाँ 'आङ्'

मर्यादा अर्थ में है। मुक्ति संसार की मर्यादा है। अतः 'आङ्मर्यादावचने' सूत्र से कर्मप्रवचनीय संज्ञा होकर 'मुक्ति' में पञ्चमी विभक्ति हुई है। इसी प्रकार आसकलाद् ब्रह्म (ब्रह्म सभी में हैं) में मयार्दा अर्थ में 'सकल' में पञ्चमी विभक्ति हुई।

६८. प्रतिः प्रतिनिधिदानयोः १।४।९२।।

एतयोरर्थयोः प्रतिरुक्तसंज्ञः स्यात्।

प्रतिनिधि तथा प्रतिदान (विनिमय या अदला-बदली करना) अर्थ में 'प्रति' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है।

६९. प्रतिनिधिप्रतिदाने च यस्मात् २।३।११।।

अत्र कर्मप्रवचनीयैर्योगे पञ्चमी स्यात्। प्रद्युम्नः कृष्णात् प्रति। तिलेभ्यः प्रतियच्छति माषान्।

कर्मप्रवचनीय के योग में जिसका कोई प्रतिनिधि होता है और जिसका प्रतिदान हो या जिससे कोई वस्तु बदली जाय, उससे पञ्चमी विभक्ति होती है।

जैसे—प्रद्युम्नः कृणात् प्रति (प्रद्युम्न कृष्ण के प्रतिनिधि हैं) यहाँ प्रतिनिधि अर्थ में 'प्रति' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होकर प्रस्तुत सूत्र से 'कृष्ण' में पञ्चमी विभक्ति हुई।

तिलेभ्यः प्रतियच्छति माषान् (तिलों से उड़द बदलता है) यहाँ प्रतिदान अर्थ में 'प्रति' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होकर प्रस्तुत सूत्र से 'तिल' में पञ्चमी विभक्ति हुई।

७०. अकर्तर्यृणे पञ्चमी २।३।२४।।

कर्तृवर्जितं यदृणं हेतुभूतं ततः पञ्चमी स्यात्। शताद् बद्धः। 'अकर्तरि' किम् ? शतेन बन्धितः।

कर्त्ता से भिन्न जो ऋण किसी का हेतु होता हो, उससे पञ्चमी विभक्ति होती है।

जैसे—शताद् बद्धः (सौ रुपये का ऋण न देने के कारण बाँधा गया) यहाँ कर्ज 'शत' बन्धन क्रिया कारण तो है किन्तु कर्त्ता नहीं है, अतः 'शत' में पञ्चमी विभक्ति हुई है।

अकर्तरि किमिति-अकर्तरि अर्थात् कर्ता से भिन्न में ही पञ्चमी क्यों कहा ? वह इसलिये कि ऋणवाची शब्द की जब कर्त्ता संज्ञा होती है, चाहे हेतु हो तो भी उसमें पञ्चमी नहीं होती है।

जैसे—शतेन बन्धितः (सौ रुपये कर्ज ने ऋणदाता से कर्जदार को बंधवा दिया) यहाँ 'बन्धितः' शब्द प्रेरणार्थक (णिजन्त) 'बन्ध्' धातु से कर्म में 'क्त' प्रत्यय लगकर बना है। 'उत्तमर्णेन अधमर्ण शताद् बद्धः' कर्जदार को ऋणदाता ने सौ रूपये से बाँधा है। यह साधारण दशा (अणिजन्त) का रूप होगा। 'शत' बाँधने की प्रेरणा देता है, यह प्रयोजक कर्त्ता है और हेतु भी, फिर भी कर्त्ता होने कारण उसमें पञ्चमी नहीं हुई है।

७१. विभाषा गुणेऽस्त्रियाम् २।३।२५।।

गुणे हेतावस्त्रीलिंगे पञ्चमी वा स्यात्। जाड्याद्-जाड्येनवा बद्धः। 'गुणे' किम् ? धनेन कुलम्। 'अस्त्रियां' किम्? बुद्ध्या मुक्तः। 'विभाषा' इति योगविभागादगुणे स्त्रियां च क्वचित्। धूमादग्निमान्। नास्ति घटोऽनुपलब्धेः।

स्त्रीलिंग को छोड़कर जो गुणवाचक शब्द हेतु को प्रकट करता है, उससे विकल्प से पञ्चमी होती है और पक्ष में तृतीया भी होती है। जैसे—

जाड्यात् जाड्येन वा बद्धः (मूर्खता के कारण पकड़ा गया) यहाँ 'जाड्य' बन्धन का हेतु है। यह गुणवाचक है और स्त्रीलिंग भी नहीं है, बल्कि नपुंसकलिंग है। अतः 'जाड्य' में पञ्चमी विभक्ति विकल्प से हुई तथा पक्ष में तृतीया भी हुई है।

गुणे किमिति—गुणवाचक होन पर ही पञ्चमी क्यों? उत्तर—गुणवाचक हेतु होने पर ही पञ्चमी होगी। गुणवाचक न होने पर हेतु में तृतीया विभक्ति ही होती है।

जैसे—धनेन कुलम् (धन के कारण कुल) में 'धन' हेतु है, गुणवाचक नहीं बल्कि द्रव्य है। अतः पञ्चमी नहीं हुई अपितु हेतु में तृतीया हुई।

अस्त्रियाम् किमिति—स्त्रीलिंग से भिन्न शब्द में ही पञ्चमी क्यों कहा? इसका उत्तर है—जो शब्द गुणवाचक हो और स्त्रीलिंग भी हो, तो उससे पञ्चमी विभक्ति नहीं होती है अपितु तृतीया विभक्ति होती है। जैसे—

बुद्ध्या मुक्तः (बुद्धि के कारण मुक्त हो गया) यहाँ 'बुद्धि' गुणवाचक है और मुक्ति का हेतु भी है किन्तु स्त्रीलिंग है। अतः पञ्चमी नहीं हुई। हेतु होने से तृतीया विभक्ति हुई।

विभाषा इति—विभाषा गुणेऽस्त्रियाम् सूत्र में योग विभाग करके 'विभाषा' को एक अलग नियम के रूप में मान लेते हैं और इसमें 'हेतौ' और 'पञ्चमी' की अनुवृत्ति कर इसका अर्थ होता है-'हेतु' में विकल्प से पञ्चमी होती है और पक्ष में तृतीया भी होती है। तब इसका यह फल होता है—

कहीं-कहीं गुणवाचक शब्द न होने पर भी पञ्चमी होती है।

जैसे—धूमात् अग्निमान् (धुआँ होने से अग्नि वाला है) यहाँ हेतु रूप 'धूम' गुणवाचक नहीं है, फिर भी उससे पञ्चमी विभक्ति हुई है।

कहीं-कहीं स्त्रीलिंग शब्द से भी पञ्चमी हो जाती है।

जैसे—नास्ति घटोऽनुपलब्धेः (उपलब्धि न होने से घट नहीं है) यहाँ 'अनुपलब्धि' स्त्रीलिंग है, फिर भी पञ्चमी विभक्ति हुई है। अनुपलब्धि का अर्थ है—ज्ञान का अभाव।

७२. पृथग्विनानानाभिस्तृतीयाऽन्यतरस्याम् २।३।३२।।

एभिर्योगे तृतीया स्यात्। पञ्चमीद्वितीये च। अन्यतरस्यां ग्रहणं समुच्चयार्थम्। पञ्चमीद्वितीये चानुवर्तेते। पृथग् रामेण रामाद् रामं वा। एवं विना, नाना।

पृथक्, विना और नाना शब्दों के योग में तृतीया विभक्ति विकल्प से होती है, पक्ष में पञ्चमी और द्वितीया भी होती है। सूत्र में 'अन्यतरस्याम्' शब्द का ग्रहण समुच्चय-संग्रह के लिए है। इसके अन्तर्गत द्वितीया और पञ्चमी का भी ग्रहण हो जाता है।

जैसे—पृथक् रामेण रामात् रामं वा (राम से पृथक् या राम के बिना) यहाँ 'पृथक्' के योग में 'राम' में विकल्प से तृतीया और पक्ष में पञ्चमी और द्वितीया विभक्तियाँ हुई हैं। इसी प्रकार 'विना' और 'नाना' के योग में तीनों विभक्तियाँ होंगी।

नोट—अमरकोष में आये हुए 'पृथग विनाऽन्तरेणर्तेहिरुग् नाना च वर्जने' इस वाक्य के अनुसार पृथक् विना और नाना ये तीनों समानार्थक हैं। यद्यपि 'नाना' शब्द का अर्थ 'अनेक' भी होता है फिर भी यहाँ साहचर्यवश 'नाना' शब्द का प्रयोग भी 'विना' के अर्थ में ही किया गया है।

७३. करणे च स्तोकाल्पकृच्छ्रकतिपयस्यासत्त्ववचनस्य २।३।३३।।

एभ्योऽद्रव्यवचनेभ्यः करणे तृतीयापञ्चम्यौ स्तः। स्तोकेन स्तोकाद्वा मुक्तः। द्रव्ये तु स्तोकेन विषेण हतः।

स्तोक (थोड़ा), अल्प (थोड़ा), कृच्छ (कठिनता, कष्ट) तथा कतिपय (कुछ) इन अद्रव्यवाचक शब्दों का जब प्रयोग होता है तो करण अर्थ में तृतीया और पञ्चमी विभक्तियाँ होती हैं। अभिप्राय यह है कि स्तोक आदि शब्दों का जब द्रव्य के लिए प्रयोग न हो, किन्तु करण के अर्थ में प्रयोग हो तो इनके योग में तृतीया और पञ्चमी विभक्ति विकल्प से होती हैं। जैसे—

स्तोकेन स्तोकाद्वा मुक्तः, अल्पात् अल्पेन वा मुक्तः (थोड़े से प्रयत्न से ही छूट गया) यहाँ स्तोक और अल्प शब्द किसी द्रव्य का विशेषण नहीं है, अतः अद्रव्यवाची होने के कारण, करण अर्थ में स्तोक और अल्प में पञ्चमी विभक्ति विकल्प से हुई और पक्ष में करण कारक तृतीया विभक्ति हुई है।

इसी प्रकार कृच्छ्रेण कृच्छ्राद् वा मुक्तः(कष्ट से छूटा), कतिपयेन कतिपयाद् वा मुक्तः (कुछ प्रयत्न से छूट गया) इन उदाहरणों कृच्छ और कतिपय शब्दों के योग में तृतीया और पञ्चमी विभक्तियाँ हुई हैं।

द्रव्ये तु इति—स्तोक आदि जब किसी द्रव्य के अर्थ में प्रयोग होते हैं, तो केवल तृतीया विभक्ति ही होती है।

जैसे—स्तोकेन विषेण हतः (थोड़े से विष से मारा गया) यहाँ 'स्तोक' शब्द विष का विशेषण है और 'विष' द्रव्य है, विशेषण होने से स्तोक भी द्रव्यवाची है। अतः 'स्तोक' शब्द से केवल तृतीया विभक्ति ही हुई है, पञ्चमी नहीं।

७४. दूरान्तिकार्थेभ्यो द्वितीया च २।३।३५।।

एभ्यो द्वितीया स्याच्चात् पञ्चमीतृतीये च। प्रातिप्रदिकार्थमात्रे विधिरयम्। ग्रामस्य दूरं दूरात् दूरेण वा। अन्तिकम् अन्तिकात् अन्तिकेन वा। असत्त्ववचनस्य इत्यनुवृत्तेर्नेह। दूरः पन्थाः।

अद्रव्यवाची दूर तथा अन्तिक (समीप) अर्थ वाले शब्दों से द्वितीया, पञ्चमी और तृतीया विभक्ति होती है। ये तीनों विभक्तियाँ केवल प्रातिपदिकार्थ में होती हैं अर्थात् ये द्वितीया आदि विभक्तियाँ केवल प्रथमा विभक्ति के अर्थ में ही रहती हैं, किसी पदार्थ के विशेषण नहीं होते।

जैस—ग्रामस्य दूरं दूरात् दूरेण वा (ग्राम से दूर)

ग्रामस्य अन्तिकम् अन्तिकात् अन्तिकेन वा (ग्राम के निकट)

इन दोनों उदाहरणों में अद्रव्यवाची दूर और अन्तिक शब्दों से क्रमशः द्वितीया पंचमी और तृतीया विभक्तियाँ हुई हैं।

असत्वेति—दूर और अन्तिक अर्थ वाले शब्द जब किसी द्रव्य के विशेषण नहीं होते तभी द्वितीया पंचमी और तृतीया विभक्ति होगी, द्रव्य का विशेषण होने पर नहीं। जैसेः- दूरः पन्थाः (मार्ग दूर है) यहाँ पन्था शब्द द्रव्यवाची है और दूर शब्द उसकी विशेषता बतलाता है। अतः वह भी द्रव्यवाची है, इसलिये 'दूर' में द्वितीया आदि विभक्तियाँ नहीं हुई। प्रातिपदिकार्थमात्र में प्रथमा विभक्ति हुई है।

इति पंचमी।

६. षष्ठी

७५. षष्ठी शेषे २।३।५०।।

कारकप्रातिपदिकार्थव्यतिरिक्तः स्वस्वामिसम्बन्धः शेषस्तत्र षष्ठी स्यात्। राज्ञः पुरुषः। कर्मादीनामपि सम्बन्धमात्रविवक्षायां षष्ठ्येव। सतां गतम्। सर्पिषो जानीते। मातुः स्मरति। एधोदकस्योपस्कुरुते। भजे शम्भोश्चरणयोः। फलानां तृप्तः।

कारक और प्रतिपदिकार्थं से भिन्न स्वस्वामिभाव आदि सम्बन्ध शेष हैं, उससे षष्ठी विभक्ति होती है। शेष का अर्थ है--जो बात अन्य विभक्तियों में कही जा चुकी है उससे बचा हुआ। अष्टाध्यायी में इससे पूर्व कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण कारक और प्रातिपदिकार्थ आदि कहा जा चुका है। अतः उससे बचा हुआ, जो स्व (अपनी वस्तु,धन या व्यक्ति) और स्वामी आदि का सम्बन्ध है, उस सम्बन्ध को प्रकट करने के लिये षष्ठी विभक्ति होती है।

'प्रत्ययार्थस्य प्रकृत्यर्थ प्रति प्राधान्यादप्रधानादेव षष्ठी' से अप्रधान में ही षष्ठी विभक्ति होती है। जिसका सम्बन्ध दिखाया जाता है, वह अप्रधान होता है और जिससे सम्बन्ध दिखाया जाये, वह प्रधान होता है। जहाँ स्वामी तथा भृत्य, जन्य तथा जनक, कार्य तथा कारण इत्यादि सम्बन्ध दिखाये जाते हैं, वहाँ षष्ठी होती है।

जैसे—राज्ञः पुरुषः(राजा का पुरुष) यहाँ पर 'राजा' स्वामी है, 'पुरुष' भृत्य है। इस ''स्वामी तथा भृत्य'' का सम्बन्ध दिखाने के लिये 'राज्ञः' में षष्ठी हुई है।

इसी प्रकार जन्य-जनक भाव होने से 'बालस्य माता' (बालक की माँ) में 'बाल' शब्द से और कार्य-कारण सम्बन्ध होने से 'भृत्तिकायाः घटः' (मिट्टी का घड़ा) में 'मृत्तिका' शब्द षष्ठी विभक्ति हुई है।

कर्मादीनामिति—जहाँ कर्म आदि कारकों में भी केवल सम्बन्ध मात्र प्रकट करने की विवक्षा हो, वहाँ भी षष्ठी विभक्ति होती है। जैसे—

सतां गतम् (सत्पुरुषों का गमन अर्थात् सत्पुरुष सम्बन्धी गमन) यहाँ भाव में 'गम' धातु से क्त प्रत्यय है। अतः सम्बन्ध मात्र की विवक्षा में 'सताम्' में षष्ठी विभक्ति हुई है।

'सर्पिषो जानीते' (घी के द्वारा प्रवृत्त होता है) यहाँ 'सर्पिस्' करण है। करणत्व की अविवक्षा होने पर सम्बन्ध मात्र की विवक्षा में 'सर्पिस्' में षष्ठी विभक्ति हुई है।

मातुः स्मरति (माता को स्मरण करता है) यहाँ 'माता' स्मरण का कर्म है, किन्तु कर्म की अविवक्षा कर सम्बन्ध मात्र की विवक्षा में 'मातुः' में षष्ठी हुई है।

'एधोदकस्योपस्कुरुते' (लकड़ी जल को परिष्कृत करती है) तथा 'भजे शम्भोश्चरणयोः' (भगवान् शिव के चरणों को भजता है) इन दोनों वाक्यों में 'एधोदक' और 'शम्भु' में कर्म के स्थान पर सम्बन्ध मात्र की विवक्षा से षष्ठी विभक्ति हुई है। फलानां तृप्तः (फलों से तृप्त हुआ) यहाँ 'फल' करण है फिर भी उसकी अविवक्षा कर सम्बन्ध मात्र की विवक्षा में 'फलानाम्' षष्ठी विभक्ति हुई है।

७६. षष्ठी हेतुप्रयोगे २।३।२६।।

हेतुशब्दप्रयोगे हेतौ द्योत्ये षष्ठी स्यात्। अन्नस्य हेतोर्वसति।

हेतु शब्द के प्रयोग में यदि हेतु (कारण) द्योतित हो रहा हो तो हेतु और कारण बोधक शब्द दोनों में षष्ठी विभक्ति होती है। जैसे–

अन्नस्य हेतोः वसति (अन्न के कारण रहता है) यहाँ रहने का कारण 'अन्न' हेतु है अतः उसमें षष्ठी विभक्ति हुई तथा साथ ही 'हेतु' शब्द में भी षष्ठी हुई। क्योंकि समानाधिकरण विशेषण है।

७७. सर्वनाम्नास्तृतीया च २।३।२७।।

सर्वनाम्नो हेतुशब्दस्य च प्रयोगे हेतौ द्योत्ये तृतीया स्यात्। षष्ठी च। केन हेतुना वसति। कस्य हेतोः।

जब सर्वनाम शब्दों के साथ हेतु शब्द का प्रयोग हो, तब हेतु प्रकट करने वाले सर्वनाम शब्द और हेतु शब्द दोनों में तृतीया और षष्ठी विभक्ति होती है। यहाँ 'च' शब्द से षष्ठी का ग्रहण होता है। जैसे–

केन हेतुना वसति, कस्य हेतोः वसति (किसलिए रहता है) इन दोनों वाक्यों में किम् सर्वनाम शब्द के रूप से क्रमशः 'केन' में तृतीया और 'कस्य' में षष्ठी विभक्ति हुई और साथ ही हेतु में भी क्रमशः तृतीया और षष्ठी हुई।

निमित्तपर्यायप्रयोगे सर्वासां प्रायदर्शनम् (वार्तिक)

किं निमित्तं वसति। केन निमित्तेन। कस्मै निमित्तायेत्यादि। एवं किं कारणं, को हेतुः, किं प्रयोजनमित्यादि। प्रायग्रहणादसर्वनाम्नः प्रथमाद्वितीये न स्तः। ज्ञानेन निमित्तेन हरिः सेव्यः। ज्ञानाय निमित्तायेत्यादि।

निमित्त शब्द तथा उसके पर्यायवाची शब्द (कारण, हेतु, प्रयोजन आदि) शब्दों से प्रायः सभी विभक्तियाँ देखी जाती हैं, चाहे वह सर्वनाम हो या ना हो। जैसे–

किं निमित्तं वसति	(किस लिए रहता है)		
केन निमित्तेन वसति	"	"	"
कस्मै निमित्ताय वसति	"	"	"
कस्मात् निमित्तात् वसति	"	"	"
कस्य निमित्तस्य वसति	"	"	"
कस्मिन् निमित्ते वसति	"	"	"

इन उदाहरणों वाक्यों में निमित्त शब्द का प्रयोग है। अत: हेतुवाचक सर्वनाम 'किम्' शब्द से क्रमशः प्रथमा, द्वितीया, तृतीया, चतुर्थी, पंचमी, षष्ठी और सप्तमी विभक्तियाँ हुई हैं।

वार्तिक में आये हुए 'प्राय:' शब्द से तात्पर्य है कि जब सर्वनाम का प्रयोग नहीं होता है, तब प्रथमा, द्वितीया नहीं होती, शेष सभी विभक्तियाँ होती हैं; जैसे—

ज्ञानेन निमित्तेन हरिः सेव्यः (ज्ञान के कारण हरि सेवनीय है)

ज्ञानाय निमित्ताय हरिः सेव्यः " " "

ज्ञानात् निमित्तात् हरिः सेव्यः " " "

ज्ञानस्य निमित्तस्य हरिः सेव्यः " " "

ज्ञाने निमित्ते हरिः सेव्यः " " "

यहाँ उपर्युक्त उदाहरणों में ज्ञान शब्द सर्वनाम नहीं है, अत: 'ज्ञान' और 'निमित्त' में प्रथमा और द्वितीया नहीं होगी।

७८. षष्ठ्यतसर्थप्रत्ययेन २।३।३०।।

एतद्योगे षष्ठी स्यात्। दिक्शब्द इति पञ्चम्या अपवादः। ग्रामस्य दक्षिणतः। पुरः पुरस्तात्। उपरि उपरिष्टात्।

अतसुच् (तस्) प्रत्यय में अन्त होने वाले शब्दों (दक्षिणतः, उत्तरतः आदि) तथा उसके अर्थ वाले प्रत्ययो में अन्त होने वाले शब्दों (उपरि, अधः, अग्रे, आदौ, पुरः आदि) के योग में षष्ठी विभक्ति होती है।

'अन्यारादितरर्ते० सूत्र से दिक्शब्द के योग पंचमी होती है (किन्तु यह सूत्र पंचमी विभक्ति का अपवाद है। जैसे—

ग्रामस्य दक्षिणतः (गाँव के दक्षिण की ओर) में अतस् प्रत्ययान्त के योग में ग्रामस्य में षष्ठी विभक्ति हुई है।

ग्रामस्य पुरः, पुरस्तात्, उपरि, उपरिष्टात् में यहाँ अतसर्थ वाची—असि (अस्), अस्ताति (अस्तात्), रिल् (रि) एवं रिष्टाति (रिष्टात्) के योग में भी षष्ठी विभक्ति होती है।

७९. एनपा द्वितीया २।३।३१।।

एनबन्तेन योगे द्वितीया स्यात्। एनपेति योगविभागात्षष्ठ्यपि। दक्षिणेन ग्रामं ग्रामस्य वा। एवमुत्तरेण।

एनप् प्रत्ययान्त शब्दों के योग में द्वितीया विभक्ति होती है। यहाँ 'एनपा द्वितीया' इस सूत्र में 'एनपा' यह विभाग करके उसमें 'षष्ठ्यतसर्थप्रत्ययेन' से षष्ठी की अनुवृत्ति कर लेने पर एनप् प्रत्ययान्त शब्दों के योग में षष्ठी विभक्ति भी होती है। जैसे—

दक्षिणेन ग्रामं ग्रामस्य वा (गाँव के दक्षिण की ओर) यहाँ 'दक्षिणेन' शब्द 'दक्षिण' शब्द से अदूर (समीप) अर्थ में 'एनबन्य० ५।३।३५।। सूत्र से 'एनप्' प्रत्यय

लगकर बना है। अतः एनप् प्रत्ययान्त 'दक्षिणेन' के योग में 'ग्राम' में द्वितीया तथा षष्ठी विभक्तियाँ हुई।

८०. दूरान्तिकार्थैः षष्ठ्यन्यतरस्याम् ३।३।३४।।

एतैर्योगे षष्ठी स्यात्पञ्चमी च। दूरं निकटंवा ग्रामस्य ग्रामाद्वा।

दूर और अन्तिक (समीप) तथा इसके पर्यायवाची शब्दों के योग में षष्ठी विभक्ति विकल्प से होती है और पक्ष में पंचमी विभक्ति भी होती है। जैसे—

दूरं निकटंवा ग्रामस्य ग्रामाद् वा (गाँव के दूर या समीप) यहाँ दूर या निकट के योग में 'ग्राम' शब्द में षष्ठी और पञ्चमी हुई है।

८१. ज्ञोऽविदर्थस्य करणे २।३।५१।।

जानातेरज्ञानार्थस्य करणे शेषत्वेन विवक्षिते षष्ठी स्यात्। सर्पिषो ज्ञानम्।

ज्ञान (जानने) से भिन्न अर्थ वाली 'ज्ञा' धातु के करण में सम्बन्ध मात्र की विवक्षा में षष्ठी विभक्ति होती है। अभिप्राय यह है कि जब 'ज्ञा' धातु का अर्थ ज्ञान न होकर लक्षणा से ज्ञानपूर्वक प्रवृत्ति होता है तब उसके करण में शेषत्व-विवक्षा में षष्ठी होती है।

जैसे—सर्पिषो ज्ञानम् (घी से कार्य करना) यहाँ 'सर्पिष्' ज्ञा धातु का करण है और 'ज्ञानम्' जानने के अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है; अतः करण में षष्ठी विभक्ति हुई है। यहाँ 'षष्ठी शेषे' की अनुवृत्ति समझनी चाहिये।

८२. अधीगर्थदयेशां कर्मणि २।३।५२।।

एषां कर्मणि शेषे षष्ठी स्यात्। मातुः स्मरणम्। सर्पिषो दयनम्, ईशनं वा।

'अधि' उपसर्ग पूर्वक 'इ' (स्मरण करना), दय् (दया करना, देना), ईश् (समर्थ होना, स्वामी होना) तथा इन्हीं अर्थ वाली अन्य धातुओं के कर्म में षष्ठी विभक्ति होती है।

जैसे—मातुः स्मरणम् (माता की याद) यहाँ स्मरणार्थक 'स्मृ' धातु के कर्म 'मातृ' में 'षष्ठी शेषे' से षष्ठी विभक्ति हुई है।

सर्पिषो दयनम् (घी का दान देना), सर्पिषो ईशनम् (घी का स्वामित्व) में क्रमशः दय् और ईश् धातुओं के कर्म सर्पिस् में 'षष्ठी शेषे' से षष्ठी विभक्ति हुई है।

८३. कृञः प्रतियत्ने २।३।५३।।

प्रतियत्नो गुणाधानम्। कृञः कर्मणि शेषे षष्ठी स्याद् गुणाधाने। एधोदकस्योपस्करणम्।

जब 'कृञ्' धातु का अर्थ कोई गुण उत्पन्न करना होता है तो उसके कर्म में षष्ठी विभक्ति होती है। प्रतियत्न का अर्थ है 'गुणाधान' अर्थात् किसी वस्तु में अन्य गुणों की स्थापना करना। अर्थात् जिसमें गुण उत्पन्न करना हो रहा हो उसमें षष्ठी होती है।

जैसे—एधोदकस्योपस्करणम् (एधोदक सम्बन्धी गुणाधान) अर्थात् ईधन का जल में उष्णता आदि उत्पन्न करना) यहाँ कृ धातु गुणाधान अर्थ में है। चूँकि इन्धन जल के गुण को बदल देती है अर्थात् जल को उष्ण बना देती है। अतः कृ धातु के कर्म 'एधोदकस्य' में 'षष्ठी शेषे' से षष्ठी विभक्ति हुई है।

८४. रुजार्थानां भाववचनानामज्वरेः २।३।५४।।

भावकर्तृकाणां ज्वरिवर्जितानां रुजार्थानां कर्मणि शेषे षष्ठी स्यात्। चौरस्य रोगस्य रुजा।

ज्वरि धातु को छोड़कर अन्य रोगार्थक धातुओं के कर्म में सम्बन्ध मात्र की विवक्षा होने पर षष्ठी विभक्ति हो, यदि उनका कर्त्ता भाववाचक शब्द हो। जैसे—

चौरस्य रोगस्य रुजा (रोग से चोर को कष्ट) यहाँ रोगार्थक 'रुज्' धातु का कर्म 'चोर' है तथा भाववाचक शब्द 'रोग' उसका कर्त्ता है। अतः रुज् धातु के कर्म 'चौर' में सम्बन्ध मात्र की विवक्षा में षष्ठी हुई है और 'रोग' में 'कर्तृकर्मणोः कृति' से षष्ठी हुई है।

अज्वरिसन्ताप्योरिति वाच्यम् (वार्तिक)।

रोगस्य चौरज्वरः चौरसन्तापो वा। रोगकर्तृकं चौरसम्बन्धि ज्वरादिकमित्यर्थः।

सूत्र में 'अज्वरि' के स्थान पर अज्वरिसन्ताप्योः कहना चाहिए। अर्थात् ज्वरि और संतापि धातुओं को छोड़कर अन्य रोगार्थक धातुओं के कर्म में षष्ठी हो। जैसेः-

रोगस्य चौरज्वरः चौरसन्तापो वा (रोगकर्तृक चोर सम्बन्धी ज्वर या सन्ताप) यहाँ 'रोग' शब्द भावप्रत्ययान्त कर्त्ता है तथा 'चोर' शब्द 'ज्वरि' और 'सन्तापि' धातुओं का कर्म है; किन्तु यहाँ रुजार्थक 'ज्वरि और 'सन्तापि' धातु होने से उक्त सूत्र से षष्ठी नहीं हुई है। यदि इस सूत्र से षष्ठी होती तो समास न होता। फलतः 'रुजार्थानां०' २.३.५४ से षष्ठी नहीं हुई, अपितु 'षष्ठी शेषे' सूत्र से षष्ठी विभक्ति होकर षष्ठी तत्पुरुष समास हुआ है—

चौरस्य ज्वरः—चौरज्वरः

चौरस्य सन्तापः—चौरसन्तापः

८५. आशिषि नाथः २।३।५५।।

आशीरर्थस्य नाथतेः शेषे कर्मणि षष्ठी स्यात्। सर्पिषो नाथनम्। 'आशिषि' इति किम् ? माणवकनाथनम्, तत्सम्बन्धिनी याञ्चा इत्यर्थः।

आशी (अभिलाषा, आशा रखना) अर्थ वाली 'नाथ्' धातु के कर्म में सम्बन्ध मात्र की विवक्षा में षष्ठी विभक्ति हो।

जैसे—सर्पिषो नाथनम् (घृत सम्बन्धी अभिलाषा) यहाँ 'नाथ्' धातु आशी अर्थ में प्रयुक्त है। अतः 'नाथ्' धातु के कर्म 'सर्पिष्' में षष्ठी शेषे से षष्ठी विभक्ति हुई है।

आशिषी किमिति--'आशिषि' का अभिप्राय है कि जब 'नाथ्' धातु का अर्थ 'आशीः' होगा तभी उक्त सूत्र से उसके कर्म में विहित अवस्था में षष्ठी होगी अन्यथा नहीं।

जैसे—माणवकनाथनम् (माणवक सम्बन्धी याचना) यहाँ 'नाथ्' धातु 'आशीः' अर्थ में नहीं अपितु 'याञ्चा' (माँगना) अर्थ में है। अतः इस सूत्र द्वारा षष्ठी नहीं होगी। 'षष्ठी शेषे' सूत्र से सम्बन्ध मात्र में षष्ठी होकर षष्ठी समास हुआ।

८६. जासिनिप्रहणनाटक्राथपिषां हिसायाम् २।३।५६।।

हिंसार्थानामेषां शेषे कर्मणि षष्ठी स्यात्। चौरस्योज्जासनम्। निप्रौ संहतौ विपर्यस्तौ व्यस्तौ वा। चौरस्य निप्रहणनम्, प्रणिहननम्, निहननम्, प्रहणनम् वा। नट अवस्कन्दने चुरादिः। चौरस्योन्नाटनम्। चौरस्य क्राथनम्। वृषलस्य पेषणम्। 'हिंसायां किम् ? धानापेषणम्।

जासि (चुरादिगणपठित जसु ताड़ने तथा जसु हिंसायाम्), नि तथा प्र दोनों उपसर्गों से युक्त हन्, नाट्, क्राथ् तथा पिष् धातु का अर्थ जब मारना हाँनि पहुँचाना होता है, तो इन धातुओं के कर्म में सम्बन्ध मात्र की विवक्षा में षष्ठी विभक्ति होती है। जैसेः-

चौरस्य उज्जासनम् (चोर सम्बन्धी हिंसा या चोर को पीटना) यहाँ उत् उपसर्ग पूर्वक चुरादिगणीय जसु ताडने या जसु हिंसायाम् धातुओं से ल्युट् प्रत्यय लगकर उज्जासनम् बना है। 'चौर' उज्जासन का कर्म है। अतः सम्बन्धमात्र की विवक्षा में षष्ठी विभक्ति हुई है।

निप्रौ इति—नि और प्र उपसर्ग 'हन्' धातु के पूर्व में, दोनों उपसर्ग इसी क्रम में मिले हुए अथवा विपरीत क्रम से मिले हुए अथवा नि और प्र जब पृथक-पृथक रूप से लिये जाते हैं। वहाँ सभी अवस्थाओं में इनके योग में हन् धातु के कर्म सम्बन्ध मात्र की विवक्षा में षष्ठी होती है। जैसे—

चौरस्य निप्रहणनम्
चौरस्य प्रणिहननम्
चौरस्य निहननम्　　} चोर सम्बन्धी हनन
चौरस्य प्रहननम्

इन सभी उदाहरणों में 'हन्' धातु के साथ क्रमशः मिले हुए, विपरीत मिले हुए और पृथक-पृथक 'नि-प्र' उपसर्गों का योग है। अतः उसके कर्म 'चोर' में सम्बन्ध मात्र की विवक्षा षष्ठी विभक्ति हुई है।

चौरस्योन्नाटनम्- यहाँ 'नट अवस्कन्दने' धातु 'नाचने' के अर्थ में चुरादिगण की धातु है किन्तु 'उद्' उपसर्ग से इसका अर्थ हिंसा हो जाता है।

चौरस्योन्नाटनम् का अर्थ है कर्मरूप चौर सम्बन्धिनी हिंसा। अतः चोर में प्रस्तुत सूत्र से सम्बन्धमात्र की विवक्षा में षष्ठी विभक्ति हुई है।

इसी प्रकार चौरस्य क्राथनम् (चोर सम्बन्धी हिंसा), वृषलस्य पेषणम् (शूद्र सम्बन्धी हिंसा) में 'क्राथ्' और 'पिष्' धातु हिंसार्थक है, अतः इसके कर्म 'चोर' और 'वृषल' में सम्बन्ध मात्र की विवक्षा में षष्ठी विभक्ति हुई है।

हिंसायाम् किमिति–सूत्र में 'हिंसायाम्' पद का अभिप्राय है कि केवल हिंसा अर्थ में ही उक्त सूत्र से 'जासि' आदि धातुओं के कर्म षष्ठी विभक्ति होती है।

जैसे–धानापेषणम्-धानानां पेषणम् (धान का पीसना) यहाँ 'पिष्' धातु का प्रयोग है किन्तु उससे 'हिंसा' की प्रतीति नहीं होती। चूँकि 'धान' अचेतन है, उसके पीसने में हिंसा नहीं होती। अतः उसके कर्म 'धान' में शेषत्व विवक्षा में उक्त सूत्र से षष्ठी नहीं हुई, अपितु 'कर्तृकर्मणोः कृति' अथवा 'षष्ठी शेषे' से षष्ठी होती है तथा षष्ठी समास हो जाता है। 'जासि' सूत्र से जहाँ षष्ठी होती है, वहाँ षष्ठी समास नहीं होता है।

८७. व्यवहृपणोः समर्थयोः २।३।५७।।

शेषे कर्मणि षष्ठी स्यात्। द्यूते क्रयविक्रयव्यवहारे चानयोस्तुल्यार्थता। शतस्य व्यवहरणं, पणनं वा। समर्थयोः किम् ? शलाकाव्यवहारः। गणना इत्यर्थः। ब्राह्मणपणनं स्तुतिरित्यर्थः।

समानार्थक 'वि' और 'अव' उपसर्ग पूर्वक हृ हरणे तथा पण् व्यवहारे स्तुतौ च धातुओं के कर्म में सम्बन्ध मात्र की विवक्षा में षष्ठी विभक्ति होती है। अर्थात् द्यूत (जुआ खेलना) तथा क्रय-विक्रय व्यवहार (मोल लेना, बेचना अर्थात् व्यापार करना) इन दो अर्थों में वि-अव पूर्वक हृ धातु तथा पण् धातु समान अर्थवाली हैं। जैसे–

शतस्य व्यवहारणं पणनं वा (सौ रुपये का लेन-देन करना या जुआ खेलना) यहाँ 'वि-अव' पूर्वक हृ तथा पण् धातुओं का प्रयोग हुआ है। अतः समानार्थक इन धातुओं के कर्म 'शत' में सम्बन्धमात्र की विवक्षा में षष्ठी विभक्ति हुई है।

समर्थयोः किमिति–सूत्र में समान अर्थवाली क्यों कहा गया है ? वह इसलिए कि द्यूत तथा क्रय विक्रय व्यवहार से भिन्न अर्थ में इन धातुओं के कर्म में उक्त सूत्र से षष्ठी विभक्ति नहीं होती है। जैसे–

शलाकाव्यवहारः (सलाई की गणना) यहाँ 'व्यवहार' का अर्थ 'गणना' है। अतः द्यूत और क्रय-विक्रय व्यवहार अर्थ न होने से उसके कर्म 'शलाका' में उक्त सूत्र से षष्ठी नहीं हुई, अपितु षष्ठी शेषे २।३।५०।। से षष्ठी विभक्ति होकर षष्ठी समास हुआ।

ब्राह्मणपणनम् (ब्राह्मण की स्तुति) यहाँ 'पण्' धातु का अर्थ स्तुति है। अतः द्यूत और क्रय-विक्रय व्यवहार अर्थ न होने से उसके कर्म 'ब्राह्मण' में उक्त सूत्र से षष्ठी नहीं हुई, अपितु षष्ठी शेषे २.३.५० से षष्ठी विभक्ति होकर षष्ठी समास हुआ।

८८. दिवस्तदर्थस्य २।३।५८।।

द्यूतार्थस्य क्रयविक्रयरूपव्यवहारार्थस्य च दिवः कर्मणि षष्ठी स्यात्। शतस्य दीव्यति। तदर्थस्य किम् ? ब्राह्मणं दीव्यति। स्तौति इत्यर्थः।

तदर्थस्य अर्थात् द्यूत अर्थ वाले और क्रय-विक्रय व्यवहार अर्थ वाले 'दिव्' धातु के कर्म में सम्बन्ध मात्र की विवक्षा में षष्ठी विभक्ति होती है। जैसे–

शतस्य दीव्यति (सौ रूपये को दाव पर या व्यवहार में लगाता है) यहाँ 'दिव्' के कर्म 'शतस्य' में षष्ठी हुई है।

तदर्थस्य किमिति–द्यूत और क्रय-विक्रय व्यवहार अर्थ में ही षष्ठी होती, उससे भिन्न अर्थ में नहीं। ऐसा क्यों कहा ?क्योंकि ब्राह्मणं दीव्यति (ब्राह्मण की स्तुति करता है) यहाँ 'दिव्' धातु का अर्थ 'स्तुति' है , द्यूत या व्यवहार नहीं। अतः उसके कर्म 'ब्राह्मण' में उक्त सूत्र से षष्ठी विभक्ति नहीं हुई, अपितु कर्म में द्वितीया विभक्ति हुई।

८९. विभाषोपसर्गे २।३।५९।।

पूर्वयोगापवादः। शतस्य शतं वा प्रतिदीव्यति।

जब 'दिव्' (जुआ खेलना, क्रय-विक्रय करना) धातु के पहले उपसर्ग लगा हो तो उसके कर्म में विकल्प से षष्ठी विभक्ति होती है, पक्ष में द्वितीया। यह पूर्व सूत्र का अपवाद है। जैसे–

शतस्य शतं वा प्रतिदीव्यति (सौ रूपये दाव पर लगाता है या लेन-देन करता है) यहाँ तदर्थक 'दिव्' धातु के पूर्व प्रति उपसर्ग लगा है। अतः उसके कर्म 'शत' में उक्त सूत्र से विकल्प से षष्ठी विभक्ति हुई। पक्ष में कर्म में द्वितीया भी हुई है।

९०. प्रेष्यब्रुवोर्हविषो देवतासम्प्रदाने २।३।६१।।

देवतासम्प्रदानेऽर्थे वर्तमानयोः प्रेष्यब्रुवोः कर्मणोर्हविषो वाचकात् शब्दात् षष्ठी स्यात्। अग्नये छागस्य हविषो वपाया मेदसः प्रेष्य अनुब्रुहि वा।

देवतासम्प्रदाने-देवता सम्प्रदानं यस्य तस्मिन् अर्थात् जहाँ देवता को उद्देश्य करके कुछ दिया जाता है। देवताओं को देने के अर्थ में जब 'प्रेष्य' (प्र उपसर्ग पूर्वक इष्) और 'ब्रू' धातुओं का प्रयोग हो, तो इन धतुओं के कर्म में जो हवि वाचक शब्द होता है, उसमें षष्ठी विभक्ति होती है। जैसे–

अग्नये छागस्य हविषः वपाया मेदसः प्रेष्यः, अनुब्रुहि वा (अग्नि को बलिरूप में बकरा, हविस्, वपा, और मेदा दो) यहाँ 'प्रेष्य' तथा 'अनुब्रूहि' के कर्मो छाग, हविस्, वपा, मेदा में अग्निदेव को दिये जाने के कारण षष्ठी विभक्ति हुई है।

९१. कृत्वोऽर्थप्रयोगे कालेऽधिकरणे २।३।६४।।

कृत्वोऽर्थानां प्रयोगे कालवाचिन्यधिकरणे शेषे षष्ठी स्यात्। पञ्चकृत्वोऽह्नो भोजनम्। द्विरह्नो भोजनम्। शेषे किम्? द्विरहन्यध्ययनम्।

कृत्व अर्थ वाले प्रत्ययों के प्रयोग में कालवाचक अधिकरण में शेषत्व की विवक्षा में षष्ठी विभक्ति होती है। इस सूत्र के अनुसार ' कृत्वसुच' तथा 'सुच' प्रत्यय जिसके अन्त में हो, ऐसे कालवाचक अधिकरण में षष्ठी हो। जैसे–

पञ्चकृत्वोऽह्नो भोजनम् (दिन में पाँच बार भोजन करता है) यहाँ 'कृत्वसुच्' प्रत्यय के साथ 'पञ्च' होने से 'अहन्' में षष्ठी विभक्ति है। कालवाची 'अहन्' शब्द

वस्तुतः अधिकरण में है। अतः सप्तमी होनी चाहिए। किन्तु कृत्वोऽर्थ प्रत्ययान्त 'पञ्चकृत्वः' के प्रयोग में कालवाची अधिकरण 'अहन्' शब्द में षष्ठी विभक्ति हुई है।

इसी प्रकार द्विरह्नो भोजनम् (दिन में दो बार भोजन करता है) में 'द्वि' में सुच् प्रत्यय है अतः कालवाची अधिकरण 'अहन्' में षष्ठी विभक्ति हुई है।

शेषे किमिति—सम्बन्ध (शेष) मात्र की विवक्षा में ही षष्ठी होगी ऐसा क्यों कहा? क्योंकि जब शेषत्व की विवक्षा न होकर अधिकरण की विवक्षा होती है तो सप्तमी ही होती है। जैसे:—द्विः अहनि अध्ययनम् (दिन में दो बार पढ़ना) यहाँ कृत्वोऽर्थ सुच् प्रत्ययान्त 'द्वि' शब्द का प्रयोग है; किन्तु कालवाची अधिकरण 'अहन्' की शेषत्व-विवक्षा नहीं है, अपितु अधिकरण की विवक्षा है अतः 'अहनि' में सप्तमी विभक्ति हुई है।

९२. कर्तृकर्मणोः कृतिः २।३।६५।।

कृद्योगे कर्तरि कर्मणि च षष्ठी स्यात्। कृष्णस्य कृतिः। जगतः कर्त्ता कृष्णः।

कृत्प्रत्ययान्त शब्दों के योग में अनुक्त (अनभिहित) कर्त्ता और कर्म में षष्ठी विभक्ति होती है। जैसे—

कृष्णस्य कृतिः (कृष्ण का कार्य) यहाँ 'कृतिः' कृत् प्रत्ययान्त शब्द है, जो 'कृ' धातु से भाव अर्थ में 'क्तिन्' प्रत्यय लगकर बना है। इसका कर्त्ता 'कृष्ण' है अतः कृत् प्रत्ययान्त शब्द कृति के प्रयोग में कर्त्ता 'कृष्ण' में षष्ठी विभक्ति हुई है। भाव में 'क्तिन्' प्रत्यय होने से कर्त्ता अनुक्त है। अनुक्त कर्त्ता में प्राप्त तृतीया का यह अपवाद है।

जगतः कर्त्ता कृष्णः (कृष्ण संसार का कर्त्ता है) यहाँ 'कर्त्ता' कृत् प्रत्ययान्त शब्द है, जो 'कृ' धातु से तृच् प्रत्यय लगकर बना है। जगत् इसका कर्म है। अतः कृत् प्रत्ययान्त शब्द 'कर्त्ता' के प्रयोग में अनुक्त कर्म 'जगत्' में षष्ठी विभक्ति हुई है। यह द्वितीया का अपवाद है।

गुणकर्मणि वेष्यते (वार्तिक)।

नेताऽश्वस्य, स्रुघ्नस्य स्रुघ्नं वा। कृति किम्? तद्धिते मा भूत्। कृतपूर्वी कटम्।

द्विकर्मक कृत् प्रत्ययान्त धातुओं के योग में गौण कर्म में विकल्प से षष्ठी होती है। अभिप्राय यह है कि कृत् प्रत्ययान्त शब्द के प्रयोग में प्रधान कर्म के साथ यदि गौण कर्म हो, तो गौण कर्म में भी विकल्प से षष्ठी होती है। जैसे—

नेताऽश्वस्य, स्रुघ्नस्य स्रुघ्नं वा (स्रुघ्न नामक स्थान को घोड़ा ले जाने वाला) यहाँ द्विकर्मक 'नी' धातु से 'तृच्' प्रत्यय लगकर 'नेता' शब्द बना है। इसका मुख्य कर्म 'अश्व' और 'अकथितं च' सूत्र से कर्म संज्ञा होने के कारण गौण कर्म 'स्रुघ्न' है अतः उक्त वार्तिक से ले जाना क्रिया के गौण कर्म 'स्रुघ्न' में विकल्प से षष्ठी विभक्ति हुई। पक्ष में अनुक्त होने से द्वितीया विभक्ति होती है। प्रधान कर्म 'अश्व' में 'कर्तृकर्मणोः कृतिः' से षष्ठी हुई है।

कृति किमिति-कृत् प्रत्ययान्त के योग में ही षष्ठी क्यों कहा है ? क्योंकि तद्धित के योग में षष्ठी नहीं होगी, जैसे—कृतपूर्वी कटम् (पहले चटाई बना ली) यहाँ 'कृ' धातु से भाव अर्थ में 'क्त' प्रत्यय लगकर 'कृत' शब्द बना है। 'क्त' प्रत्ययान्त 'कृत' शब्द का 'पूर्वम्' क्रियाविशेषण के योग में 'कृतं पूर्वम् अनेन' इस विग्रह में 'सह सुपा' २।१।४।। सूत्र से समास होनेपर 'स पूर्वाच्च' ५।२।८७।। सूत्र से तद्धित 'इनि' प्रत्यय होने से 'कृतपूर्वी' बना है। 'इनि' प्रत्यय कर्त्ता अर्थ में होता है। तद्धित प्रत्यय कर्त्ता में विहित होने से कर्त्ता को कहता है कर्म नहीं। 'कट' शब्द 'कृत' शब्द का कर्म है। अतः षष्ठी प्राप्त होती है, किन्तु तद्धित प्रत्यय से युक्त होने से षष्ठी का निषेध हो जाता है। इस प्रकार तद्धित प्रत्ययान्त 'कृतपूर्वी' के प्रयोग में 'कट' में षष्ठी विभक्ति नहीं हुई।

९३. उभयप्राप्तौ कर्मणि २।३।६६।।

उभयोः प्राप्तिर्यस्मिन् कृति तत्र कर्मण्येव षष्ठी स्यात्। आश्चर्यो गवां दोहोऽगोपेन।

जब कृत् प्रत्ययान्त शब्दों के योग में अनभिहित (अनुक्त) कर्त्ता और कर्म दोनों एक साथ आवें, तो केवल कर्म में ही षष्ठी विभक्ति होती है। कर्त्ता में अनुक्त होने से तृतीया होती है।

पूर्व सूत्र 'कर्तृकर्मणोः कृतिः' में यह बताया गया है कि कृत् प्रत्ययान्त शब्दों के योग में अनुक्त कर्त्ता और कर्म में षष्ठी का विधान होता है; किन्तु यहाँ इस नियम में बताया जा रहा है कि कृत् प्रत्ययान्त के योग में कर्त्ता और कर्म के एक साथ आने पर केवल कर्म में ही षष्ठी हो, कर्त्ता में नहीं। जैसे—

आश्चर्यो गवां दोहोऽगोपेन (अगोप (ग्वाला से भिन्न) से गायों का दुहा जाना आश्चर्य की बात है) यहाँ 'दोहः' में 'दुह्' धातु से भाव में 'घञ्' प्रत्यय हुआ है, अतः 'दोहः' कृत् प्रत्ययान्त शब्द है। 'अगोप' कर्त्ता तथा 'गो' कर्म है। कृत् प्रत्ययान्त 'दोहः' के योग में 'अगोप' कर्त्ता और कर्म 'गो' दोनों में 'कर्तृकर्मणोः कृतिः' से षष्ठी प्राप्त है; किन्तु इस नियम से केवल कर्म 'गो' में ही षष्ठी विभक्ति हुई। अनुक्त कर्त्ता 'अगोप' में 'कर्तृकरणयोस्तृतीया' २।३।१८।। से तृतीया विभक्ति हुई है।

स्त्रीप्रत्ययोरकाकारयोर्नायं नियमः (वार्तिक)।

भेदिका, बिभित्सा वा रुद्रस्य जगतः।

स्त्रीलिंग में होने वाले 'अक्' (ण्वुल आदि) तथा 'अ' कृदन्त प्रत्ययों के योग में 'उभयप्राप्तौ कर्मणि' के अनुसार कर्त्ता और कर्म दोनों की प्राप्ति होने पर कर्म में ही षष्ठी हो, कर्त्ता में नहीं, यह नियम नहीं लगता। अर्थात् स्त्रीवाचक 'अक' तथा 'अ' प्रत्ययान्त शब्दों के योग में कर्त्ता और कर्म दोनों ही षष्ठी विभक्ति होती है। जैसे—

भेदिका बिभित्सा वा रुद्रस्य जगतः (रुद्र का जगत् भेदन या भेदन करने की इच्छा) यहाँ 'भेदिका' शब्द भिद् धातु से 'ण्वुल्' प्रत्यय के स्थान पर 'अक' आदेश होकर, स्त्रीत्व विवक्षा में 'टाप्' लगकर बना है। 'बिभित्सा' शब्द सन्नन्त 'भिद्' धातु से

'अ' प्रत्यय तथा स्त्रीत्व विवक्षा में 'टाप्' प्रत्यय लगकर बना है। अतः स्त्रीलिंग 'अक' प्रत्ययान्त भेदिका और 'अ' प्रत्ययान्त 'बिभित्सा' के प्रयोग में अनुक्त कर्त्ता 'रुद्र' और कर्म 'जगत्' दोनों में षष्ठी विभक्ति हुई है।

शेषे विभाषा (वार्तिक)।

स्त्रीप्रत्यये इत्येके। विचित्रा जगतः कृतिर्हरेर्हरिणा वा। केचिद् अविशेषेण विभाषामिच्छन्ति। शब्दानाम् अनुशासनम् आचार्येण आचार्यस्य वा।

'अक' और 'अ' प्रत्ययों को छोड़कर स्त्रीलिंग कृत् प्रत्ययान्त शब्दों के योग में विकल्प से षष्ठी विभक्ति होती है तथा पक्ष में तृतीया। यहाँ 'शेष' का अर्थ कुछ लोग 'स्त्रीप्रत्यय' से लगाते हैं। उनके अनुसार स्त्रीलिंग कृत् प्रत्यय में षष्ठी विकल्प से होती है। अभिप्राय यह है कि 'अक' और 'अ' प्रत्यय से भिन्न स्त्रीलिंग कृत् प्रत्ययान्त शब्दों के योग में कर्म में नित्य षष्ठी होती है; किन्तु कर्त्ता में विकल्प से षष्ठी विभक्ति होती है।

जैसे—विचित्रा जगतः कृतिहरेर्हरिणा वा (हरि की संसार की कृति विचित्र है) यहाँ 'कृति' में स्त्रीलिंग 'क्तिन्' कृदन्त प्रत्यय है, यहाँ कर्म 'जगत्' और कर्त्ता 'हरि' दोनों में षष्ठी प्राप्ति है; किन्तु स्त्रीलिंग 'अक' और 'अ' प्रत्यय से भिन्न 'क्तिन्' प्रत्यय के योग में अनुक्त कर्त्ता 'हरि' में इस वार्तिक से विकल्प से षष्ठी तथा पक्ष में तृतीया विभक्ति हुई और अनुक्त कर्म में नित्य षष्ठी हुई है।

कुछ लोगों के अनुसार 'शेषे विभाषा' का अर्थ 'अक' और 'अ' से भिन्न किसी भी कृत् प्रत्ययान्त शब्दों के योग में चाहे वह किसी भी लिंग का क्यों न हो, अनुक्त कर्त्ता में विकल्प से षष्ठी विभक्ति होती है। जैसे—

शब्दानाम् अनुशासनम् आचार्येण आचार्यस्य वा (आचार्य द्वारा शब्दों का अनुशासन) यहाँ 'अनुशासनम्' शब्द अनुपूर्वक 'शास्' धातु से भाव में कृत् प्रत्यय 'ल्युट्' (अन) बना है। यहाँ 'ल्युट्' प्रत्यय 'अक' और 'अ' से भिन्न है और स्त्री प्रत्यय भी नहीं है। अतः 'अनुशासनम् के योग में अनुक्त कर्त्ता 'आचार्य' में विकल्प से षष्ठी तथा पक्ष में तृतीया विभक्ति हुई।

९४. क्तस्य च वर्तमाने २।३।६७।।

वर्तमानार्थस्य क्तस्य च योगे षष्ठी स्यात्। 'न लोके' इति निषेधस्यापवादः। राज्ञां मतो बुद्धः पूजितो वा।

जब 'क्त' प्रत्यय जो भूतकालीन प्रत्यय है का वर्तमानकाल के अर्थ में प्रयोग होता है, तो अनुक्त कर्त्ता में षष्ठी विभक्ति होती है।

क्त प्रत्यय प्रायः भूतकाल के अर्थ में होता है 'मतिबुद्धि पूजार्थेभ्यश्च' ३।२।१८८।। से वर्तमान काल अर्थ में 'क्त' प्रत्यय कहा गया है, उसी का यहाँ ग्रहण किया गया है। यह सूत्र 'न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम् २।३।६९।। सूत्र से क्त, क्तवतु (निष्ठा) प्रत्ययों के योग में षष्ठी का निषेध हुआ—का अपवाद सूत्र है। जैसे—

राज्ञां मतो बुद्धः पूजितो वा (राजाओं द्वारा माना जाता है, जाना जाता है, अथवा पूजा जाता है) यहाँ मन्, बुध् तथा पूज् धातुओं से वर्तमान काल में 'मतिबुद्धि पूजार्थेभ्यश्च' ३।२।१८८।। से 'क्त' प्रत्यय होकर मतः, बुद्धः तथा पूजितः बना है। अतः इन शब्दों के प्रयोग में अनुक्त कर्त्ता 'राजन्' में षष्ठी विभक्ति हुई है।

९५. अधिकरणवाचिनश्च २।३।६८।।

क्तस्य योग षष्ठी स्यात्। इदम् एषाम् आसितं शयितं गतं भुक्तं वा।

जब भूतकालीन 'क्त' प्रत्यय किसी 'अधिकरण' का बोध कराता है, तो उसके योग में षष्ठी विभक्ति होती है। जैसे—

क्तोऽधिकरणे च ध्रौव्यगतिप्रत्यवसानार्थेभ्यः ३।४।७६।। सूत्र से अधिकरण अर्थ में 'क्त' प्रत्यय होता है। उसी का ग्रहण यहाँ हुआ है। यह सूत्र भी 'न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्' २।३।६९।। के षष्ठी निषेध का अपवादक है। जैसे—

इदम् एषाम् आसितं शयितं गतं भुक्तं वा (यहाँ वे बैठे, यहाँ सोये, इधर से गये, यहाँ से भोजन किया) यहाँ क्रमशः आस्, शीङ, गम्, और भुज् धातुओं से 'क्तोऽधिकरणे०' ३।४।७६।। सूत्र से अधिकरण में 'क्त' प्रत्यय हुआ है। अतः इनके योग में प्रस्तुत सूत्र से 'एषाम्' में षष्ठी विभक्ति हुई है। आस्यतेऽस्मिन् इति आसितम् अर्थात् आसन् शय्येऽस्मिन् इति शयितम् (शय्या), गम्यतेऽस्मिन् इति गतम् (मार्ग), भुज्यतेऽस्मिन् इति भुक्तम् (भोजन पात्र) सभी में अधिकरण अर्थ में क्त प्रत्यय है।

९६. न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम् २।३।६९।।

एषां प्रयोगे षष्ठी न स्यात्। लादेशाः-कर्वन् कुर्वाणो वा सृष्टिं हरिः। उः-हरिं दिदृक्षुः। अलंकरिष्णुर्वा। उक-दैत्यान् घातुकां हरिः।

लोका = ल + उ या उक् यह पदच्छेद है। (१) लकार के अर्थ में प्रयुक्त किये जाने वाले प्रत्ययों से युक्त शब्दों के योगे में (२) 'उ', 'उक्' जिसके अन्त में हो ऐसे कृदन्त प्रत्ययों से युक्त शब्दों के योग में (३) अव्यय, कृदन्त के योग में (४) क्त, क्तवतु (निष्ठा) प्रत्ययों के योगे में (५) खल या खलर्थ प्रत्ययों के योग में (६) शतृ, शानच्, शानन्, चानश्, तृन् प्रत्ययान्त शब्दों के योग में अनुक्त कर्त्ता और कर्म में षष्ठी नहीं होती है। यह सूत्र 'कर्तृकर्मणोः कृति' प्राप्त षष्ठी का निषेध करता है।

जैसे—कर्वन् कुर्वाणो वा सृष्टिं हरिः (सृष्टि करता हुआ हरि) यहाँ 'कृ' धातु से लट् लकार के स्थान में 'लटः शतृशानचावप्रथमासमानाधिकरणे' ३।२।१२४।। सूत्र से शतृ (अन्) प्रत्यय होकर कुर्वन् और शानच् (आन) प्रत्यय होकर कुर्वाणः शब्द बना है। ये कृत्संज्ञक भी है। इनके योग में 'कर्तृकर्मणोः कृति' से षष्ठी प्राप्त होती है; किन्तु लादेश होने के कारण प्रस्तुत सूत्र से षष्ठी का निषेध हो गया और कर्म 'सृष्टि' में द्वितीया विभक्ति हुई है।

हरिं दिदृक्षुः (हरि दर्शन का इच्छुक) यहाँ 'उ' प्रत्यय के योग में षष्ठी नहीं हुई, अपितु 'हरिम्' में द्वितीया हुई है।

हरिम् अलंकरिष्णु (हरि को अलंकृत करने वाला) यहाँ 'अलम्' पूर्वक 'कृञ्' धातु से 'इष्णुच्' प्रत्यय होकर अलंकरिष्णु बना है। इस 'उ' प्रत्ययान्त के योग में षष्ठी नहीं हुई अपितु अनुक्त कर्त्ता 'हरिम्' द्वितीया हुई है।

दैत्यान् घातुको हरिः (दैत्यों को मारने वाले हरि) यहाँ 'हन्' धातु 'उकञ्' प्रत्यय होकर 'घातुक' शब्द बना है। अतः इनके योग में 'दैत्य' में षष्ठी नहीं हुई अपितु अनुक्त कर्म 'दैत्य' में द्वितीया विभक्ति हुई है।

कमेरनिषेधः (वार्तिक)

लक्ष्म्याः कामुको हरिः। अव्ययम्-जगत् सृष्ट्वा। सुखं कर्तुम्। निष्ठा-विष्णुना हता दैत्याः। दैत्यान् हतवान् विष्णुः। खलर्थः-ईषत्करः प्रपंचो हरिणा। तृन्निति प्रत्याहारः शतृशानचाविति तृशब्दादारभ्य तृनो नकारात्। शानन्-सोमं पवमानः। चानश्- आत्मानं मण्डयमानः। शतृ-वेदमधीयन्। तृन्-कर्ता लोकान्।

'कम्' धातु से 'उक' प्रत्यय होने पर षष्ठी का निषेध नहीं होता है, अर्थात् षष्ठी विभक्ति होती है। जैसे—लक्ष्म्याः कामुको हरिः (हरि लक्ष्मी से इच्छुक हैं) यहाँ 'कम्' धातु से उकञ्प्रत्यय होकर 'कामुकः' शब्द बना है। कृत् प्रत्यय के योग में कर्म में 'कर्तृकर्मणोः कृति' से षष्ठी प्राप्त होती है। 'न लाकाव्यय०' सूत्र से 'उक' प्रत्यय के प्रयोग होने से षष्ठी का निषेध प्राप्त है। इस प्रकार इस वार्तिक से निषेध का निषेध होकर अनुक्त कर्म 'लक्ष्मी' में षष्ठी विभक्ति हुई है।

अव्यय—जगत् सृष्ट्वा (संसार को बनाकर), सुखं कर्तुम् (सुख करने के लिए) यहाँ प्रथम वाक्य में सृज् धातु से क्त्वा प्रत्यय होकर 'सृष्ट्वा शब्द बना है। क्त्वा अव्ययसंज्ञक है। अतः इसके योग में अनुक्त कर्म 'जगत्' में प्राप्त षष्ठी का प्रस्तुत सूत्र निषेध हो जाता है, और कर्म में जगत् में द्वितीया विभक्ति हुई।

दूसरा वाक्य 'कृ' धातु से 'तुमुन्' प्रत्यय होकर 'कर्तुम्' शब्द बना है। तुमुन् प्रत्यय भी अव्ययसंज्ञक है। अतः इसके योग में अनुक्त कर्म 'सुख' में प्राप्त षष्ठी प्रस्तुत सूत्र निषेध हो जाता है और कर्त्ता 'विष्णु' में तृतीया विभक्ति हुई है।

निष्ठा—'क्तक्तवतु निष्ठा' सूत्र से 'क्त' और 'क्तवतु' की निष्ठा संज्ञा होती है।

विष्णुना हता दैत्याः (विष्णु ने दैत्यों का वध किया) यहाँ 'हन्' धातु से क्त प्रत्यय होकर 'हत' शब्द बना है। अतः निष्ठा के योग में अनुक्त कर्त्ता 'विष्णु' में प्राप्त षष्ठी का प्रस्तुत सूत्र से निषेध होकर कर्त्ता 'विष्णु' में तृतीया विभक्ति हुई है।

दैत्यान् हतवान् विष्णुः (विष्णु ने दैत्यों को मारा) यहाँ 'हन्' धातु से क्तवतु प्रत्यय होकर 'हतवान्' शब्द बना है। अतः निष्ठा के योग में अनुक्त कर्म 'दैत्य' में प्राप्त षष्ठी का प्रस्तुत सूत्र से निषेध होकर कर्म 'दैत्य' में द्वितीया विभक्ति हुई है।

खलर्थ—ईषत्करः प्रपञ्चो हरिणा (हरि के लिए संसार -प्रपंच सरल है) यहाँ 'ईषत्' पूर्वक 'कृ' धातु से 'अकृच्छ्र (सरलता) अर्थ में 'खल्' प्रत्यय होकर 'ईषत्करः'

बना है। अतः इसके योग में अनुक्त कर्त्ता 'हरि' में प्राप्त षष्ठी का प्रस्तुत से निषेध होकर तृतीया हुई है।

तृन् इति- सूत्र में 'तृन्' का तात्पर्य तृन् प्रत्याहार से है। इसमें 'लट शतृशानचौ०' ३.२.१२४ सूत्र में स्थित शतृ के तृ से लेकर 'तृन्' ३.२.१३५ सूत्र के नकार तक के प्रत्यय लिये जाते है। इसके अन्तर्गत शतृ, शानच्, शानन्, चानश् और तृन् कृत् प्रत्यय आते हैं। अतः इनके योग में षष्ठी विभक्ति नहीं होगी।

शानन्—सोमं पवमानः (सोम को पवित्र करते हुए) यहाँ 'पूङ्' धातु से 'शानन्' प्रत्यय होकर 'पवमानः' बना है। अतः इसके योग में अनुक्त कर्म 'सोम' में प्राप्त षष्ठी का निषेध होकर 'सोम' में द्वितीया विभक्ति हुई।

शानच्—आत्मानं मण्ड्यमानः (अपने को अलंकृत करता हुआ) यहाँ मण्डनार्थक 'मण्डि' धातु से चानश् प्रत्यय होकर 'मण्डमानः' बना है। अतः इसके योग में अनुक्त कर्म 'आत्मन्' में प्राप्त षष्ठी का निषेध होकर 'आत्मन्' में द्वितीया विभक्ति हुई है।

शतृ—वेदम् अधीयन् (वेद को पढ़ता हुआ) यहाँ 'अधि' पूर्वक 'इङ्' धातु से शतृ प्रत्यय होकर 'अधीयन्' बना है। कृत् प्रत्ययान्त 'अधीयन्' के योग में अनुक्त कर्म 'वेद' में प्राप्त षष्ठी विभक्ति का निषेध होकर 'वेद' में द्वितीया विभक्ति हुई है।

तृन्—कर्त्ता लोकान् (संसार को बनाने वाले) यहाँ 'कृ' धातु से 'तृन्' प्रत्यय होकर कर्त्ता बना है। अतः इसके योग में अनुक्त कर्म 'लोक' में प्राप्त षष्ठी का निषेध होकर कर्म 'लोक' द्वितीया' विभक्ति हुई है।

द्विषः शतुर्वा (वार्तिक)

मुरस्य मुरं वा द्विषन्। सर्वोऽयं कारकषष्ठ्याः प्रतिषेधः। शेषे षष्ठी तु स्यादेव। ब्राह्मणस्य कुर्वन्। नरकस्य जिष्णुः।

शतृ प्रत्ययान्त 'द्विष्' धातु के योग में षष्ठी का निषेध विकल्प से होता है, अर्थात् षष्ठी भी हो सकती है और द्वितीया भी। जैसे—

मुरस्य मुरं वा द्विषन् (मुर नामक राक्षस का शत्रु) यहाँ द्विष् धातु से शतृ प्रत्यय होकर द्विषन् शब्द बना है। कृत् प्रत्ययान्त द्विषन् के योग में अनुक्त कर्म 'मुर' में प्रस्तुत वार्तिक से षष्ठी का विकल्प से निषेध होने के कारण 'षष्ठी' और 'द्वितीया' दोनों विभक्तियाँ हुई हैं।

ये सब नियम षष्ठी का निषेध करते हैं। शेष में षष्ठी होगी अर्थात् 'न लोकाव्यय०' सूत्र से कारक षष्ठी का और कर्तृकर्मणोः कृतिः आदि से प्राप्त षष्ठी का ही निषेध होता है। 'षष्ठी शेषे' सूत्र से किसी भी कारक में सम्बन्ध मात्र की विवक्षा हो तो षष्ठी होती ही है। जैसे—

ब्राह्मणस्य कुर्वन् (ब्राह्मण को बनाता हुआ) यहाँ कृत् प्रत्ययान्त 'कुर्वन्' के योग में कर्तृकर्मणोः कृति' से अनुक्त कर्म 'ब्राह्मण' में प्राप्त षष्ठी का निषेध हो गया, किन्तु सम्बन्ध मात्र की विवक्षा में षष्ठी हुई है।

नरकस्य जिष्णुः (नरक नामक राक्षस को जीतने वाला) यहाँ 'जि' धातु से 'ग्स्नु' प्रत्यय होकर 'जिष्णुः' शब्द बना है। अतः इसके योग में अनुक्त कर्म 'नरक' में प्राप्त कारक षष्ठी का निषेध होकर 'षष्ठी शेषे' से षष्ठी विभक्ति हुई है।

९७. अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययोः २।३।७०।।

भविष्यत्यकस्य भविष्यदाधमर्ण्यार्थः इनश्च योगे षष्ठी न स्यात्। सतः पालकोऽवतरित। व्रजं गामी। शतं दायी।

भविष्यत् अर्थ में कहे हुए 'अक' प्रत्यय तथा भविष्यत् और आधमर्ण्य (कर्जदार) अर्थ में कहे हुए 'इन' प्रत्यय के योग में षष्ठी नहीं होती है। यह सूत्र भी 'कर्तृकर्मणोः कृति' का अपवाद है। जैसे—

सतः पालकोऽवतरित (सज्जनों का पालन करने वाला अवतरित होता है) यहाँ भविष्यत् अर्थ में पाल् धातु से 'ण्वुल' के 'वु' स्थान पर 'अक' प्रत्यय होकर 'पालक' शब्द बना है। अतः 'अक' प्रत्ययान्त 'पालक' के योग में अनुक्त कर्म 'सत्' में प्राप्त षष्ठी का प्रस्तुत सूत्र से निषेध होने पर द्वितीया विभक्ति हुई।

व्रजं गामी (व्रज जाने वाला) यहाँ 'गम्' धातु से भविष्यत् अर्थ में णिनि (इन) प्रत्यय होकर 'गामी' शब्द बना है। इसके योग में अनुक्त कर्म 'व्रज' में प्राप्त षष्ठी का निषेध होकर द्वितीया हुई है।

शतं दायी (सौ रुपये का देनदार) यहाँ आधमर्ण्य अर्थ में 'दा' धातु से 'णिनि' प्रत्यय होकर 'दायी' शब्द बना है। अतः इसके योग में अनुक्त कर्म 'शत' में प्राप्त षष्ठी का निषेध होकर द्वितीया विभक्ति हुई है।

९८. कृत्यानां कर्तरि वा २।३।७१।।

षष्ठी वा स्यात्। मया मम वा सेव्यो हरिः। कर्तरीति किम्? गेयो माणवकः साम्नाम्। 'भव्यगेय०' ३।४।६८।। इति कर्त्तरि यद् विधानाद् अनभिहितं कर्म। अत्र योगे विभज्यते।

कृत् प्रत्ययान्त शब्दों के योग में अनुक्त कर्त्ता में विकल्प से षष्ठी विभक्ति होती है। पक्ष में तृतीया। 'कर्तृकर्मणोः कृति' सूत्र से षष्ठी ही होती है, किन्तु इस सूत्र से विकल्प से षष्ठी होगी। जैसे—

मम मया वा सेव्यो हरिः (मेरे द्वारा हरि सेवनीय हैं) यहाँ 'सेव्' धातु से 'ण्यत्' कृत्य प्रत्यय होकर 'सेव्य' शब्द बना है। अतः कृत् प्रत्ययान्त 'सेव्य' के योग में अनुक्त कर्त्ता में 'अस्मद्' में विकल्प से षष्ठी विभक्ति (मम) हुई। पक्ष में तृतीया विभक्ति (मया) हुई।

कर्तरीति किम्—कर्त्ता में ही क्यों कहा है ?वह इसलिए कि कृत्य प्रत्यय के योग में कर्त्ता में ही विकल्प से षष्ठी होती है, कर्म में नहीं। जैसे—

गेयो माणवकः साम्नाम् (माणवक साम का गान करने वाला है) यहाँ 'गा' धातु से 'भव्यगेयप्रवचनीयोपस्थानीयजन्याप्लाव्यापात्या वा' सूत्र से 'यत्' कृत्य प्रत्यय होकर

'गेय' शब्द बना है। कर्तृवाच्य में 'यत्' प्रत्यय होने से कर्त्ता उक्त तथा कर्म अनुक्त है। अतः कृत्य प्रत्ययान्त 'गेय' के योग में अनुक्त कर्म 'सामन्' में 'कर्तृकर्मणोः कृति से षष्ठी विभक्ति हुई। कर्त्ता के उक्त होने से 'माणवकः' में प्रथमा हुई है।

जिन क्रियाओं के दो कर्म होते हैं उनके भविष्यत्-कालीन कृदन्त के साथ षष्ठी नहीं होती है। भाष्यकार ने इस सूत्र को दो भागों में बाँटा है।

९८. (क) कृत्यानाम्।

'उभयप्राप्तौ इति न' इति चानुवर्तते। तेन नेतव्या व्रजं गावः कृष्णेन। ततः।

कृत् प्रत्ययान्त शब्द के योग में कर्त्ता और कर्म दोनों में षष्ठी विभक्ति नहीं होती है। 'उभयप्राप्तौ' तथा 'न लोकाऽव्यय' सूत्र से 'न' की अनुवृत्ति लेकर यह अर्थ होगा कि कृत्यप्रत्ययान्त के योग में कर्त्ता और कर्म दोनों में षष्ठी न हो। जैसे—

नेतव्या व्रजं गावः कृष्णेन (कृष्ण को गाय व्रज में ले जानी है) इसमें कर्त्ता 'कृष्ण' कर्म 'व्रज' में षष्ठी प्राप्त थी लेकिन इस सूत्र से निषेध होने से गौण कर्म 'व्रजम्' में द्वितीया और अनुक्त कर्त्ता 'कृष्णेन' में तृतीया हुई। 'गावः' प्रधान कर्म के उक्त होने से प्रथमा विभक्ति है।

९८. (ख) कर्तरि वा। उक्तोऽर्थः।

इसमें 'कृत्यानाम्' सूत्र की अनुवृत्ति है अर्थात् इस स्थिति में विकल्प से षष्ठी होगी, जिसे सूत्र ९८ में स्पष्ट किया जा चुका है।

९९. तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां तृतीयाऽन्यतरस्याम् २।३।७२।।

तुल्यार्थैर्योगे तृतीया वा स्यात् पक्षे षष्ठी। तुल्यः सदृशः समो वा कृष्णस्य कृष्णेन वा। अतुलोपमभ्यां किम्? तुला उपमा वा कृष्णस्य नास्ति।

तुला और उपमा शब्दों को छोड़कर तुल्य अर्थ वाले शब्दों के योग में विकल्प से तृतीया विभक्ति होती है और पक्ष में षष्ठी विभक्ति होती है। जैसे—

तुल्यः सदृशः समः वा कृष्णेन कृष्णस्य वा (कृष्ण के समान) यहाँ तुल्य, सदृश और सम आदि तुल्यार्थक शब्दों के योग में 'कृष्ण' में विकल्प से तृतीया और पक्ष में षष्ठी विभक्ति हुई है।

सूत्र में 'अतुलोपमाभ्याम्' का अभिप्राय है कि तुला और उपमा शब्दों के योग में विकल्प से तृतीया नहीं होती है, केवल षष्ठी विभक्ति ही होती है। जैसे—

तुला उपमा वा कृष्णस्य नास्ति (कृष्ण की उपमा नहीं है) यहाँ तुला और उपमा का योग होने के कारण प्रस्तुत सूत्र से 'कृष्ण' में तृतीया विभक्ति नहीं हुई, अपितु केवल षष्ठी विभक्ति हुई है।

१००. चतुर्थी चाशिष्यायुष्यमद्रभद्रकुशलसुखार्थहितैः २।३।७३।।

एतदर्थैर्योगे चतुर्थी वा स्यात् पक्षे आशिषि। आयुष्यं चिरंजीवितं कृष्णाय कृष्णस्य वा भूयात्। एवं मद्रं भद्रं कुशलं निरामयं सुखं शम् अर्थः प्रयोजनं हितं

पथ्यं वा भूयात्। आशिषि किम् ? देवदत्तस्य आयुष्यम् अस्ति। व्याख्यानात् सर्वत्र अर्थग्रहणम्। मद्रभद्रयोः पर्यायत्वाद् अन्यतरो न पठनीयः।

आशीर्वाद अर्थ में आयुष्य, मद्र, भद्र (शुभ), कुशल, सुख, अर्थ (प्रयोजन) और हित इन शब्दों तथा इनके समानार्थक शब्दों के भी योग में विकल्प से चतुर्थी विभक्ति होती है और पक्ष में षष्ठी होती है। जैसे—

आयुष्यं चिरंजीवितंवा कृष्णाय कृष्णस्य वा भूयात् (कृष्ण आयुष्यमान् हों या कृष्ण की दीर्घ आयु हों) यहाँ 'भूयात्' आशीर्लिंग के योग से आशीर्वाद अर्थ को बतला रहा है। अतः आयुष्य के योग में 'कृष्ण' शब्द में विकल्प से चतुर्थी विभक्ति हुई और पक्ष में षष्ठी हुई है।

इसी प्रकार मद्रं, भद्रं, कुशलं, निरामयं, सुखं, शम्, अर्थः, प्रयोजनं, हितं, पथ्यं वा कृष्णाय कृष्णस्य वा भूयात् में भी आशीर्वाद अर्थ में इन शब्दों तथा इनके पर्यायवाची शब्दों के योग में 'कृष्ण' में चतुर्थी और पक्ष में षष्ठी विभक्ति हुई है।

सूत्र में 'आशिषि' का अभिप्राय है कि आशीर्वाद अर्थ में ही इन शब्दों के योग में चतुर्थी विभक्ति होती है, इसके अभाव में चतुर्थी विभक्ति नहीं होती है, केवल षष्ठी विभक्ति होती है। जैसे—

देवदत्तस्य आयुष्यम् अस्ति (देवदत्त की दीर्घ आयु है) यहाँ 'आयुष्यम्' का 'आशीर्वाद' अर्थ न होकर एक सामान्य तथ्य का कथन है। अतः षष्ठी है।

आचार्यों के व्याख्यान के अनुसार प्रकृत सूत्र में कहे गये 'आयुष्य' आदि सभी शब्दों में अर्थ का ग्रहण हो जाता है। फलतः इनके समानार्थक शब्दों का भी ग्रहण हो जाता है। मद्र और भद्र (कल्याणवाची) समानार्थक हैं, अतः इनमें से किसी एक को नहीं पढ़ना चाहिए, क्योंकि पर्याय ग्रहण से एक द्वारा दूसरे का ग्रहण अपने आप हो जाता है।

इति षष्ठी।

७. सप्तमी

१०१. आधारोऽधिकरणम् १।४।४५।।

कर्तृकर्मद्वारा तन्निष्ठक्रियाया आधारः कारकमधिकरणसञ्ज्ञः स्यात्।

कर्त्ता और कर्म द्वारा उसमें रहने वाली क्रिया का जो आधार है, उसकी अधिकरण संज्ञा हो।

क्रिया का साक्षात् आधार तो कर्त्ता और कर्म ही होते हैं, किन्तु उनके आधार को भी साक्षात् आधार न मानकर परम्परया क्रिया का आधार कहा जाता है, क्योंकि क्रिया, कर्त्ता या कर्म में ही रहती है।

१०२. सप्तम्यधिकरणे च २।३।३६।।

अधिकरणे सप्तमी स्यात्। चकाराद् दूरान्तिकार्थेभ्यः। औपश्लेषिको वैषयिकोऽभिव्यापकश्च इत्याधारस्त्रिधा। कटे आस्ते। स्थाल्यां पचति। मोक्षे इच्छास्ति। सर्वस्मिन्नात्मास्ति। वनस्य दूरे अन्तिके वा। 'दूरान्तिकार्थेभ्यः०' इति विभक्ति त्रयेण सह चतस्रोऽत्र विभक्तयः फलिताः।

अधिकरण कारक में सप्तमी विभक्ति होती है।

प्रस्तुत सूत्र में 'च' में के प्रयोग से 'दूरान्तिकार्थेभ्यो द्वितीया च' २.३.३५ सूत्र से दूरान्तिकार्थेभ्यः की अनुवृत्ति होती है। इस प्रकार दूर और अन्तिक (समीप) अर्थवाचक शब्दों में सप्तमी विभक्ति होती है।

आधार तीन प्रकार का होता है—१. औपश्लेषिक २. वैषयिक ३. अभिव्यापक

१. **औपश्लेषिक**—उपश्लेष का अर्थ है—संयोग आदि सम्बन्ध। जहाँ कर्त्ता अथवा कर्म आधार में संयोग आदि सम्बन्ध से रहते हैं, वह आधार औपश्लेषिक है।

जैसे—कटे आस्ते (चटाई पर बैठता है) यहाँ कर्त्ता का आधार कट के साथ संयोग सम्बन्ध है। अतः 'आधारोऽधिकरणम्' से कट की अधिकरण संज्ञा तथा 'सप्तम्यधिकरणे च' से सप्तमी विभक्ति हुई। इसी प्रकार स्थाल्यां पचति।

२. **वैषयिक**—विषयता सम्बन्ध में होने वाला आधार वैषयिक होता है अर्थात् जिसके साथ आधेय का बौद्धिक सम्बन्ध होता है।

जैसे—मोक्षे इच्छास्ति (मोक्ष विषयक इच्छा है) यहाँ कर्त्ता का मोक्ष से बौद्धिक सम्बन्ध होने के कारण 'मोक्षे' में सप्तमी विभक्ति हुई है।

३. **अभिव्यापक**—जिसके साथ आधेय का सर्वावयव-संयोग होता है, अर्थात् जिसमें कोई वस्तु समस्त अवयवों में व्याप्त होकर रहती है।

जैसे—सर्वस्मिन् आत्माऽस्ति (सब में आत्मा है) यहाँ आत्मा सब में अभिव्याप्त है। अतः अभिव्यापक आधार है। इसलिए 'सर्व' की 'आधारोऽधिकरणम्' से अधिकरण संज्ञा तथा 'सप्तम्यधिकरणे च' से सप्तमी विभक्ति हुई। इसी प्रकार 'तिलेषु तैलम्' में।

वनस्य दूरे अन्तिके वा (वन से दूर या निकट) यहाँ दूरे और अन्तिके में सप्तमी विभक्ति हुई। 'दूरान्तिकार्थेभ्यो द्वितीया च' २.३.३५ सूत्र के द्वारा द्वितीया, तृतीया और पंचमी ये तीनों विभक्तियाँ तो लगती ही हैं। इसी सूत्र से चतुर्थी और सप्तमी विभक्ति भी लगती है।

क्तस्येन्विषयस्य कर्मण्युपसंख्यानम् (वार्तिक)

अधीती व्याकरणे। अधीतम् अनेन इति विग्रहे इष्टादिभ्यश्च ५।२।८८।। इति कर्तरीनिः।

क्त प्रत्ययान्त शब्दों में 'इन्' प्रत्यय लगकर जो शब्द बनते हैं, उनके कर्म में सप्तमी विभक्ति होती है। जैसे--

अधीती व्याकरणे (व्याकरण पढ़ा हुआ) यहाँ अधीत शब्द (अधि + इङ् + क्त) से इष्टादिभ्यश्च सूत्र से कर्त्ता में 'इन्' प्रत्यय होकर अधीती शब्द बना है। व्याकरण इसका कर्म है। अतः 'अधीती' के कर्म 'व्याकरण' में प्रस्तुत वार्तिक से सप्तमी विभक्ति हुई है।

साध्वसाधुप्रयोगे च (वार्तिक)

साधुः कृष्णो मातरि असाधुर्मातुले।

साधु और असाधु के योग में (जिसके प्रति साधुता या असाधुता बतायी गयी हो, उसमें) सप्तमी विभक्ति होती है। जैसे—

साधुः कृष्णो मातरि (कृष्ण माता के प्रति अच्छे हैं) यहाँ 'साधु' के योग में 'मातरि' में सप्तमी विभक्ति हुई है।

कृष्णः असाधुर्मातुले (कृष्ण मामा के प्रति बुरे हैं) यहाँ 'असाधु' के योग में 'मातुले' में सप्तमी विभक्ति हुई है।

निमित्तात् कर्मयोगे (वार्तिक)

निमित्तमिह फलम्। योगः संयोगसमवायात्मकः।

चर्मणि द्वीपिनं हन्ति दन्तयोर्हन्ति कुन्जरम्।

केशेषु चमरीं हन्ति, सीम्नि पुष्कलको हतः।। इति भाष्यम्।

हेतौ तृतीयाऽत्र प्राप्ता तन्निवारणार्थमिदम्। सीमाऽण्डकोशः। पुष्कलको गन्धमृगः। योगविशेषे किम्? वेतनेन धान्यं लुनाति।

निमित्त शब्द का अर्थ है–फल और योग शब्द का अर्थ है संयोग और समवाय सम्बन्ध से है। (यहाँ फल से तात्पर्य है जिसके लिए क्रिया की जा रही हो) निमित्त अर्थात् जिस फल की प्राप्ति के लिए कोई क्रिया की जाती है, वह फल यदि क्रिया के कर्म साथ संयोग या समवाय सम्बन्ध हो तो उस निमित्त अर्थात् फलवाचक शब्द से सप्तमी विभक्ति होती है। जैसे–

चर्मणि द्वीपिनं हन्ति (चर्म के लिए व्याघ्र को मारता है)

दन्तयोः हन्ति कुन्जरम् (दाँतों के लिए हाथी को मारता है)

केशेषु चमरीं हन्ति (केशों के लिए चमरी नामक मृग विशेष को मारता है)

सीम्नि पुष्कलको हतः (अण्डकोष के लिए कस्तूरी मृग को मारा)

यहाँ प्रथम वाक्य में 'चर्म' रूप फल के लिए व्याघ्र को मारता और 'चर्म' द्वीपी (व्याघ्र) कर्म में समवेत है अर्थात् समवाय सम्बन्ध से रहता है। अतः 'चर्मणि' में सप्तमी विभक्ति हुई है। इसी प्रकार द्वितीय वाक्य में-दन्तयोः में, तृतीया वाक्य में–केशेषु में, चतुर्थ में–सीम्नि में भी सप्तमी विभक्ति हुई है। क्योंकि यहाँ दन्त, केश, सीम का कर्म क्रमशः हस्ती, चमरी, पुष्कलक के साथ समवाय सम्बन्ध है।

हेताविति–प्रकृत वार्तिक के सभी उदाहरणों में 'हेतौ' से चर्मणि आदि में तृतीया प्राप्त थी; किन्तु प्रस्तुत वार्तिक से उसका निषेध करके सप्तमी विभक्ति हुई है।

वार्तिक में 'योग' शब्द का अर्थ है 'योगविशेष'। अर्थात् जहाँ फल का कर्म के साथ संयोग या समवाय सम्बन्ध होता है, वहीं प्रस्तुत वार्तिक से निमित्तवाचक शब्द में सप्तमी विभक्ति होती है। जैसे–

वेतनेन धान्यं लुनाति (वेतन के लिए धान्य काटता है) यहाँ काटना क्रिया का फल 'वेतन' है, किन्तु 'धान्य' के साथ उसका संयोग या समवाय सम्बन्ध नहीं है। इसीलिए यहाँ सप्तमी विभक्ति नहीं हुई, अपितु 'हेतौ' सूत्र से तृतीया ही हुई है।

१०३. यस्य च भावेन भावलक्षणम् २।३।३७।।

यस्य क्रियया क्रियान्तरं लक्ष्यते, ततः सप्तमी स्यात्। गोषु दुह्यमानासु गतः।

जिसकी एक क्रिया से दूसरी क्रिया लक्षित होती है उस क्रिया में सप्तमी विभक्ति होती है। अर्थात् जब किसी एक कार्य के हो जाने पर दूसरे कार्य का होना प्रतीत होता है, तो जो कार्य हो चुकता है उसमें सप्तमी विभक्ति होती है। जैसे—

गोषु दुह्यमानासु गतः (गाय के दुहे जाने पर गया) यहाँ गायों के दोहन क्रिया से किसी की गमन क्रिया लक्षित होती है। अर्थात् गायों के दुह जाने के बाद 'गमन' क्रिया हुई यानि गोदोहन क्रिया पहले हुई उसके बाद (वह) गया। अतः जो क्रिया पहले हुई उसमें यानि 'गोषु' में सप्तमी विभक्ति हुई है और 'दुह्यमानासु' में भी सप्तमी हुई है।

अर्हाणां कर्तृत्वेऽनर्हाणामकर्तृत्वे तद्वैपरीत्ये च (वार्तिक)।

सत्सु तरत्सु असन्त आसते। असत्सु तिष्ठत्सु सन्तस्तरन्ति। सत्सु तिष्ठत्सु असन्तस्तरन्ति। असत्सु तरत्सु सन्तस्तिष्ठन्ति।

अर्ह शब्द का अर्थ है योग्य और अनर्ह शब्द का अर्थ है अयोग्य या अनुचित। अर्थात् किसी क्रिया को करने में जो जो योग्य हो, वह अर्ह और जो अयोग्य है वह अनर्ह कहा जायेगा।

किसी क्रिया के सम्बन्ध में किसी योग्य व्यक्ति के कर्तृत्व बतलाने में तथा अयोग्य व्यक्ति के अकर्तृत्व बतलाने में या इसके विपरीत दशा में सप्तमी विभक्ति होती है। कर्त्ता और उससे अन्वित क्रिया दोनों में सप्तमी विभक्ति होती है।

इस प्रकार प्रस्तुत वार्तिक के चार भाग बनते हैं, जिनके उदाहरण क्रम से दिये जा रहे हैं।

१. **अर्हाणाम् कर्तृत्वे**—सत्सु तरत्सु असन्त आसते (सज्जनों के पार हो जाने पर असज्जन बैठे रहते हैं) यहाँ सज्जनों का तरना उचित है, वे तरण क्रिया के कर्तृत्व के योग्य बताये गये हैं। अतः योग्य कर्ता 'सत्' और क्रिया 'तरत्' में उक्त वार्तिक से सप्तमी विभक्ति हुई है।

२. **अनर्हाणाम् अकर्तृत्वे**—असत्सु तिष्ठत्सु सन्तः तरन्ति (असज्जनों के ठहरने पर सज्जन पार हो जाते हैं) तरण क्रिया में 'असज्जन' अयोग्य है। अतः उन्हें तरण क्रिया का कर्त्ता बतना अभीष्ट नहीं। इस प्रकार अयोग्यों का अकर्तृत्व बताने में अयोग्य कर्त्ता 'असत्' और उसकी क्रिया 'तिष्ठत्' में सप्तमी विभक्ति हुई है।

३. योग्यों का अकर्तृत्वे प्रकट करने के लिए तद्वाचक शब्द से सप्तमी विभक्ति होती है, जैसे—सत्सु तिष्ठत्सु असन्तः तरन्ति (सज्जनों का तरना उचित है, वे तरण क्रिया के योग्य है; किन्तु उनका तरना (अकर्तृत्व) 'तिष्ठत्सु' से प्रकट हो रहा है। अतः योग्य कर्त्ता 'सत्सु और उसकी क्रिया 'तिष्ठत्सु' में सप्तमी विभक्ति होती है।

४. अयोग्यों का कर्तृत्वे बताने के लिए उनसे सप्तमी विभक्ति होती है। जैसे—असत्सु तरत्सु सन्तः तिष्ठन्ति (असज्जनों के पार हो जाने पर सज्जन ठहरे रह जाते है) यहाँ असज्जनों का तरना अनुचित है किन्तु उनका तरना 'तरत्सु' से प्रकट हो रहा है। अतः 'असत्सु' और उसके विशेष 'तरत्सु' में सप्तमी विभक्ति हुई है।

१०४. षष्ठी चानादरे २।३।३८।।

अनादराधिक्ये भावलक्षणे षष्ठीसप्तम्यौ स्तः। रुदित रुदतो वा प्राव्राजीत्। रुदन्तं पुत्रादिकमनादृत्य संन्यस्तवान् इत्यर्थः।

अनादर की अधिकता प्रकट करने पर जिसकी क्रिया से अन्य क्रिया लक्षित होती है, उससे षष्ठी या सप्तमी विभक्ति होती है। जैसे–

रुदति रुदतो वा प्राव्राजीत् (रोते हुए पुत्र आदि का अनादर करके संन्यासी बन गया)–रुदन्तं पुत्रादिकमनादृत्य संन्यस्तवान्– यहाँ 'रुदन' क्रिया से प्रवजन क्रिया लक्षित होती है और अनादर आधिक्य भी है। चूँकि रोते हुए पुत्र का अनादर करके पिता का संन्यासी बनना प्रकट हो रहा है। अत: 'रुदति' या रुदत: में सप्तमी या षष्ठी विभक्ति हुई है।

१०५. स्वामीश्वराधिपतिदायादसाक्षिप्रतिभूप्रसूतैश्च २।३।३९।।

एतैः सप्तभिर्योगे षष्ठीसप्तम्यौ स्तः। षष्ठ्यामेव प्राप्तायां पाक्षिकसप्तम्यर्थं वचनम्। गवां गोषु वा स्वामी। गवां गोषु वा प्रसूतः। गा एवानुभवितुं जात इत्यर्थः।

स्वामी (स्वामी), ईश्वर (प्रभु), अधिपति (स्वामी), दायाद (गोतिया), साक्षिन् (गवाह), प्रतिभू (जमानतदार) तथा प्रसूत (उत्पन्न) इन शब्दों के योग में भी षष्ठी और सप्तमी विभक्तियाँ होती हैं। जैसे–

गवां गोषु वा स्वामी (गायों का स्वामी) यहाँ 'स्वामी' शब्द के योग में 'गो' शब्द में षष्ठी और सप्तमी विभक्तियाँ हुई है।

गवां गोषु वा प्रसूत: (गायों के लिए उत्पन्न) इसका भाव है–गा एवानुभवितुं जात:–गायों को ही अपने भाग के रूप में प्राप्त करने के लिए उत्पन्न हुआ। यहाँ 'प्रसूत' शब्द के योग में षष्ठी और सप्तमी विभक्ति हुई है।

१०६. आयुक्तकुशलाभ्यां चासेवायाम् २।३।४०।।

आभ्यां योगे षष्ठीसप्तम्यौ स्तस्तात्पर्येऽर्थे। आयुक्तो व्यापारितः। आयुक्तः कुशलो वा हरिपूजने हरिपूजनस्य वा। आसेवायां किम् ? आयुक्तो गौः शकटे। ईषद्युक्ते इत्यर्थः।

आयुक्त = व्यापारित अर्थात् लगाया हुआ और कुशल शब्दों के योग में तत्परता अर्थ की प्रतीति होने पर षष्ठी और सप्तमी विभक्तियाँ होती है। आयुक्त का अर्थ है काम में लगा हुआ। जैसे–

आयुक्त: कुशलो वा हरिपूजने हरिपूजनस्य वा (हरि के पूजन में लगा हुआ या कुशल) यहाँ आयुक्त और कुशल के योग में 'हरिपूजन' में षष्ठी और सप्तमी विभक्तियाँ हुई हैं।

आसेवायां किमिति–सूत्र में 'आसेवायाम्' का अर्थ है कि जहाँ तत्परता अर्थ होता है वहीं 'आयुक्त' और 'कुशल' शब्दों के योग में षष्ठी विभक्तियाँ होती हैं, अन्य अर्थ में केवल सप्तमी विभक्ति ही होती है। जैसे–

आयुक्त: गौ: शकटे (गाड़ी में बैल जोड़ा गया) यहाँ आयुक्त शब्द से तत्परता नहीं, अपितु 'कुछ जुड़ा या जुता हुआ' प्रतीत होता है। अत: तत्परता अर्थ न होने के कारण षष्ठी नहीं, अधिकरण सिद्ध होने से 'शकटे' में सप्तमी हुई। यहाँ 'आ' का ईषद् (कुछ) अर्थ है।

१०७. यतश्चनिर्धारणम् २।३।४१।।

जातिगुणक्रियासंज्ञाभिः समुदायाद् एकदेशस्य पृथक्करणं निर्धारणं यतस्ततः षष्ठीसप्तम्यौ स्तः। नृणां नृषु वा ब्राह्मणः श्रेष्ठः। गवां गोषु वा कृष्णा बहुक्षीरा। गच्छतां गच्छत्सु वा धावन् शीघ्रः। छात्राणां छात्रेषु वा मैत्रः पटुः।

जहाँ समुदाय से किसी विशेष को जाति, गुण, क्रिया, संज्ञा के आधार पर पृथक किया जाय, वहाँ समुदायवाचक शब्द से षष्ठी या सप्तमी विभक्ति होती है। समुदाय से किसी अंश को पृथक् करने को ही निर्धारण कहते हैं।

निर्धारित किये जाने वाले समुदाय चार प्रकार के हैं—१.जाति २. गुण ३. क्रिया ४. संज्ञा।

१. **जातिवाचक**—नृणां नृषु वा ब्राह्मणः श्रेष्ठः (मनुष्यों में ब्राह्मण श्रेष्ठ है) यहाँ मनुष्यों में ब्राह्मण जाति की श्रेष्ठता बताकर उसे पृथक् किया गया है अतः समुदायवाचक 'नृ' शब्द में षष्ठी और सप्तमी विभक्तियाँ हुई हैं।

२. **गुणवाचक**—गवां गोषु वा कृष्णा बहुक्षीरा (गायों में कृष्णा बहुत दूध देने वाली है) यहाँ गुण के आधार पर 'गो' समुदाय से 'कृष्णा' को पृथक किया गया है अतः 'गो' शब्द में षष्ठी और सप्तमी विभक्तियाँ हुई हैं।

३. **क्रियावाचक**—गच्छतां गच्छत्सु वा धावन् शीघ्रः (जाने वालों में दौड़ता हुआ शीघ्र जाता है) यहाँ क्रिया के आधार पर 'धावन्' क्रिया को पृथक किया गया है, अतः समुदायवाचक क्रिया शब्द 'गच्छत्' में षष्ठी और सप्तमी विभक्तियाँ हुई हैं।

४. **संज्ञावाचक**—छात्राणां छात्रेषु वा मैत्रः पटुः (छात्रों में मैत्र चतुर है) यहाँ 'छात्र' समुदाय से संज्ञावाचक 'मैत्र' को पृथक् किया गया है, अतः समुदायवाचक 'छात्र' शब्द में षष्ठी और सप्तमी विभक्तियाँ हुई हैं।

१०८. पञ्चमी विभक्ते २।३।४२।।

विभागो विभक्तम्। निर्धार्यमाणस्य यत्र भेद एव पञ्चमी स्यात्। माथुराः पाटलिपुत्रेभ्यः आढ्यतराः।

विभक्त का अर्थ है विभाग, भेद, अन्तर। जहाँ से निर्धार्यमाण (पृथक् की जा रही वस्तु) का विभाग हो, उसमें पञ्चमी विभक्ति होती है अथवा दो की तुलना में एक की विशेषता बतलायी जाती है, उसमें पञ्चमी विभक्ति होती है। जैसे—

माथुराः पाटलिपुत्रेभ्यः आढ्यतराः (मथुरावासी पाटलिपुत्र वालों से अधिक धनी हैं) यहाँ मथुरा वाले पाटलिपुत्र वासियों से भिन्न हैं, निर्धार्यमाण मथुरा है, इनका पाटलिपुत्रकों से भेद किया जा रहा है, अतः पाटलिपुत्रेभ्यः में पञ्चमी विभक्ति हुई है।

१०९. साधुनिपुणाभ्यामर्चायां सप्तम्यप्रतेः २।३।४३।।

आभ्यां योगे सप्तमी स्यादर्चायाम् न तु प्रतेः प्रयोगे। मातरि साधुर्निपुणो वा। अर्चायां किम् ? निपुणो राज्ञो भृत्यः। इह तत्त्वकथने तात्पर्यम्।

साधु और निपुण शब्दों के योगे में (अर्चायां) पूजा अर्थ में सप्तमी विभक्ति होती है; किन्तु 'प्रति' के योग में नहीं होती है। जैसे—

मातरि साधुः निपुणः वा (माता के प्रति भला अथवा मातृ-सेवा में निपुण) यहाँ साधु और निपुण शब्द माता के प्रति पूज्य भाव व्यक्त कर रहे हैं। अतः इन शब्दों के योग में 'मातरि' में सप्तमी विभक्ति हुई है।

अर्चायां किमिति—सूत्र में 'अर्चायाम्' शब्द का अभिप्राय है कि जहाँ पूजा या आदर का भाव नहीं होता है वहाँ सप्तमी विभक्ति नहीं होती है। जैसे—

निपुणो राज्ञो भृत्यः (राजा का सेवक कुशल है) यहाँ आदर का भाव नहीं अपितु तथ्यकथन है, क्योंकि राजा का सेवक स्वभावतः निपुण होता है। अतः अर्चा के अभाव में 'निपुण' शब्द का योग होने पर भी 'राजन्' शब्द में सप्तमी विभक्ति नहीं हुई अपितु सम्बन्ध मात्र की विवक्षा में षष्ठी विभक्ति हुई है।

अप्रत्यादिभिरिति वक्तव्यम् (वार्तिक)

साधुर्निपुणो वा मातरं प्रति परि अनु वा।

साधुर्निपुणाभ्यामर्चायां सप्तम्यप्रतेः इस सूत्र में 'अप्रतेः' के स्थान पर 'अप्रत्यादिभिः' कहना चाहिए अर्थात् उपर्युक्त सप्तमी का निषेध केवल 'प्रति' के योग में ही नहीं, अपितु 'परि' और 'अनु' के योग में भी होता है। अतः प्रति, परि तथा अनु का प्रयोग होने पर साधु और निपुण शब्दों का अर्चा अर्थ होने पर भी सप्तमी विभक्ति नहीं होती है, अपितु द्वितीया (कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया) होती है। जैसे—

साधुः निपुणः वा मातरं प्रति परि अनु वा (माता के प्रति सज्जन अथवा मातृसेवा में निपुण) यहाँ पूजार्थक 'साधु' और 'निपुण' शब्दों का प्रयोग है, किन्तु 'प्रति' आदि का प्रयोग होने के कारण सप्तमी का निषेध हो गया। तब 'लक्षणेत्थम्भूत०' १।४।९०।। से कर्मप्रवचनीय संज्ञा तथा 'कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया' से 'मातरं' में द्वितीया विभक्ति हुई है।

११०. प्रसितोत्सुकाभ्यां तृतीया च २।३।४४।।

आभ्यां योगे तृतीया स्याच्चात्सप्तमी। प्रसित उत्सुको वा हरिणा हरौ वा।

प्रसित और उत्सुक (तत्पर) शब्दों के योग में तृतीया विभक्ति है और चकार से सप्तमी भी। जैसे—

प्रसितः उत्सुको वा हरिणा हरौ वा (हरि के लिए उत्सुक या तत्पर) यहाँ प्रसित और उत्सुक शब्दों के योग में 'हरि' शब्द में तृतीया और सप्तमी विभक्ति हुई है।

१११. नक्षत्रे च लुपि २।३।४५।।

नक्षत्रे प्रकृत्यर्थे यो लुप्सञ्ज्ञया लुप्यमानस्य प्रत्ययस्यार्थस्तत्र वर्तमानात् तृतीयासप्तम्यौ स्तोऽधिकरणे। 'मूलेनावाहयेद् देवीं श्रवणेन विसर्जयेत्। मूले श्रवणे इति वा। लुपि किम् ? पुष्ये शनिः।

लुप् प्रत्ययान्त नक्षत्रवाची शब्द से भी अधिकरण अर्थ में तृतीया और सप्तमी विभक्तियाँ होती हैं। अर्थात् जहाँ नक्षत्रवाचक शब्द काल-विशेष को प्रकट करता है, वहाँ उससे अधिकरण में तृतीया और सप्तमी विभक्तियाँ होती हैं। जैसे—

मूलेन आवाहयेद् देवीं श्रवणेन विसर्जयेत् मूले इति वा (मूल नक्षत्र-युक्त काल में देवी का आवाहन करें और श्रवण नक्षत्र युक्त काल में विसर्जन करें) यहाँ मूल और

श्रवण नक्षत्र से युक्त काल के बोधक हैं। नक्षत्रवाची मूल, श्रवण शब्द से 'नक्षत्रेण युक्तः कालः ४।२।३।। से अण् प्रत्यय हुआ और 'लुबविशेषः' ४।२।४।। से उस प्रत्यय का लोप हुआ है। अतः इनके योग में अधिकरण अर्थ में नक्षत्रवाची 'मूल' और 'श्रवण' में तृतीया और पक्ष में सप्तमी विभक्ति हुई है।

लुपि किमिति-सूत्र में 'लुपि' पद का अभिप्राय है कि जब 'अण्' प्रत्यय होकर उसका लोप नहीं होता या नक्षत्रवाची शब्द काल विशेष के लिए नहीं आता, अपने अर्थ में ही रहता है, वहाँ अधिकरण अर्थ में सप्तमी होती है। तृतीया नहीं। जैसेः-

पुष्ये शनिः (पुष्य नक्षत्र में शनि है) यहाँ 'पुष्य' शब्द नक्षत्रवाची है; किन्तु यहाँ कोई प्रत्यय होकर लोप नहीं हुआ है। अतः 'पुष्य' में उक्त सूत्र से तृतीया नहीं हुई, अपितु अधिकरण अर्थ में सप्तमी विभक्ति हुई है।

११२. सप्तमीपञ्चम्यौ कारकमध्ये २।३।७।।

शक्तिद्वयमध्ये यौ कालाध्वनो ताभ्यामेते स्तः। अद्य भुक्त्वा अयं द्व्यहे द्व्यहाद् वा भोक्ता। कर्तृशक्त्योर्मध्येऽयं कालः। इहस्थोऽयं क्रोशे क्रोशाद् वा लक्ष्यं विध्येत्। कर्तृकर्मशक्तयोर्मध्येऽयं देशः। अधिकशब्देन योगे सप्तमीपञ्चम्यौ इष्येते। 'तदस्मिन्नधिकम्' इति 'यस्मादधिकम्' इति च सूत्रनिर्देशात्। लोके लोकाद् वा अधिको हरिः।

दो कारक शक्तियों के मध्य जो कालवाची और मार्गवाची शब्द हो, तद्वाचक शब्दों से सप्तमी और पंचमी विभक्तियाँ होती है।

यहाँ 'कारक मध्ये' का अर्थ है दो कारकों की शक्तियों के बीच।

जैसे—अद्य भुक्त्वा अयं द्व्यहे द्व्यहाद् वा भोक्ता (आज खाकर यह दो दिन में या दो दिन बाद खायेगा) यहाँ कर्त्ता एक ही है, वह आज कोई क्रिया करता है (भुक्त्वा = खाकर) और फिर दो दिन बाद कोई क्रिया करता है। इन दो शक्तियों के बीच का समय का अन्तर बताने वाले शब्द 'द्व्यहे द्व्यहाद्' में क्रमशः सप्तमी और पंचमी विभक्तियाँ हुई हैं।

इहस्थोऽयं क्रोशे क्रोशाद् वा लक्ष्यं विध्येत् (यहाँ खड़े होकर यह एक कोस पर लक्ष्य का भेदन करेगा) यहाँ मार्गवाचक 'क्रोश' दो शक्तियों कर्त्ता (अयम्) और कर्म (लक्ष्य) के बीच है अर्थात् यहाँ खड़े होने और दूसरी क्रिया 'लक्ष्य का वेध करने' के बीच के मार्ग की दूरी बताने वाला शब्द 'क्रोश' है, अतः मार्गवाचक ' क्रोशे क्रोशाद्' में क्रमशः सप्तमी और पंचमी विभक्तियाँ हुई हैं।

अधिकशब्देनेति—अधिक शब्द के योग में (जिससे अधिकता बताई जाय, उससे) सप्तमी और पंचमी विभक्तियाँ होती हैं। महर्षि पाणिनि ने अपने सूत्रों में 'तदस्मिन्नधिकमिति दशान्ताड्डः' ५।२।४५।। से अधिक के योग में सप्तमी और 'यस्मादधिकं यस्य चेश्वरवचनं तत्र सप्तमी' २।३।९।। से अधिक के योग में पंचमी विभक्तियाँ होती हैं।

जैसे—लोके लोकाद् वा अधिको हरिः (लोक में या लोक की अपेक्षा हरि श्रेष्ठ है) यहाँ अधिक के योग में 'लोके लोकाद्' में क्रमशः सप्तमी और पंचमी विभक्तियाँ हुई हैं।

११३. अधिरीश्वरे १।४।९७।।

स्वस्वामिभावसम्बन्धेऽधिः कर्मप्रवचनीयसंज्ञः स्यात्।

स्व और स्वामी के सम्बन्ध को प्रकट करने में 'अधि' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है। जैसे—

अधि देवदत्ते पञ्चाला (पञ्चाल देवदत्त के अधीन है) यहाँ देवदत्त स्वामी ईश्वर है और पञ्चाल उसके अधीन है। अतः स्वस्वामिभाव सम्बन्ध में वर्तमान 'अधि' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है और देवदत्त में 'यस्मादधिकं यस्य चेश्वरवचनम्' से सप्तमी विभक्ति हुई है।

११४. यस्मादधिकं यस्य चेश्वरवचनं तत्र सप्तमी २।३।९।।

अत्र कर्मप्रवचनीययुक्ते सप्तमी स्यात्। उप परार्धे हरेर्गुणाः। परार्धादधिका इत्यर्थः। ऐश्वर्ये तु स्वस्वामिभ्यां पर्यायेण सप्तमी। अधि भुवि रामः। अधि रामे भूः। सप्तमी शौण्डैरिति समासपक्षे तु रामाधीना। 'अषडक्ष०' इत्यादिना खः।

जिससे अधिकता हो और जिसका स्वामित्व कहा जाय, उन शब्दों में कर्मप्रचवनीय के योग में सप्तमी विभक्ति होती है।

जैसे—उप परार्धे हरेर्गुणाः (हरि के गुण परार्ध से भी अधिक हैं) यहाँ 'उप' की अधिक अर्थ में 'उपोऽधिके च' १।४।८७।। से कर्मप्रवचनीय संज्ञा हुई। यहाँ परार्ध से हरि के गुण की अधिकता बतायी जा रही है इसलिए 'परार्ध' में कर्मप्रवचनीयसंज्ञक 'उप' के योग सप्तमी विभक्ति हुई है।

ऐश्वर्ये त्विति—स्वामित्व अर्थ में स्व और स्वामी वाचक शब्दों से पर्याय से सप्तमी विभक्ति होती है अर्थात् कभी 'स्व' में सप्तमी होती है तो कभी 'स्वामी' में सप्तमी होती है। जैसे—

अधि भुवि रामः (राम पृथ्वी के स्वामी है) यहाँ 'स्व' शब्द से 'भू' का ग्रहण होता है तथा 'राम' स्वामी है। स्वस्वामिभाव अर्थ के वाची 'अधि' की अधिरीश्वरे १।४।९७।। से कर्मप्रवचनीय संज्ञक 'अधि' के योग में स्ववाची 'भू' शब्द में सप्तमी विभक्ति हुई है।

अधि रामे भूः (पृथ्वी राम के अधिकार में है) यहाँ 'भू' पर स्वामित्व बतलाने के लिए कर्मप्रवचनीय 'अधि' के योग में स्वामीवाचक 'राम' शब्द में सप्तमी विभक्ति हुई है।

सप्तमीति—'अधि रामे' इस विग्रह में जब 'सप्तमी शौण्डै १।१।४०।। सूत्र से स्वामिवाचक राम शब्द का समास होकर 'राम + अधि = रामाधि से स्वार्थ में 'अषडक्षाशितङ्ग्वलंकर्मालंपुरुषाध्युत्तरपदात्खः ५१.४.७ से ख प्रत्यय होकर उसका 'ईन' आदेश होने पर 'रामाधीन' और फिर स्त्रीत्व की विवक्षा में 'टाप्' होकर रामाधीना यह प्रयोग होगा।

११५. विभाषा कृञि १।४।९८।।

अधिः करोतौ प्राक्संज्ञो वा स्यादीश्वरेऽर्थे। यदत्र माम् अधिकरिष्यति। विनियोक्ष्यते इत्यर्थः। इह विनियोक्तुरीश्वरत्वं गम्यते। अगतित्वात् 'तिङि चोदात्तवति' इति निघातो न।

ईश्वरत्व अर्थात् स्व–स्वामिभाव अर्थ में 'कृञ्' धातु के परे रहने पर 'अधि' की विकल्प से कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है। जैसे–

यदत्र माम् अधिकरिष्यति (जो यहाँ मुझे नियुक्त करेगा) यहाँ 'अधिकरिष्यति' का अर्थ है-विनियोक्ष्यते (नियुक्त करेगा) विनियोक्ता का स्वामित्व प्रकट होता है, क्योंकि नियुक्त करने वाला स्वामी ही होता है और नियोज्य सेवक। 'अधिकरिष्यति' में 'अधि' पर 'करिष्यति' यह 'कृ' धातु है। अतः 'अधि' की प्रस्तुत सूत्र से विकल्प से कर्मप्रवचनीय संज्ञा हुई और 'कर्मप्रवचनीय द्वितीया' से 'माम्' में द्वितीया विभक्ति हुई है।

जब माम् में कर्म होने से ही द्वितीया प्राप्त थी, तब 'अधि' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा का क्या फल होगा ? इसका उत्तर है–अगतित्वात् इति–गति संज्ञा के अभाव में 'तिङि चोदात्तवति' ८।१।७१।। से अधि को निघात (सर्वानुदात्त) नहीं होता। चूँकि कर्मप्रवचनीय संज्ञा, गति संज्ञा और उपसर्ग संज्ञाओं की बाधिका है। अतः यहाँ 'अधि' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने पर गति संज्ञा होती। यह सूत्र 'अधि' के निघात-निषेध के लिए है, इसका प्रयोजन स्वर-प्रक्रिया में है कारक में नहीं।

इति सप्तमी।

कारकविभक्त्यर्थप्रकरणम् समाप्त।

✤

परीक्षोपयोगी प्रश्न

१. प्रातिपदिकार्थलिंगपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा सूत्र की व्याख्या कीजिए।
२. कर्तुरीप्सिततमं कर्म सूत्र की सोदाहरण व्याख्या कीजिए।
३. अकथितं च सूत्र की व्याख्या कीजिए।
४. साधकतमं करणम् सूत्र की व्याख्या कीजिए।
५. सहयुक्तेऽप्रधाने सूत्र की व्याख्या कीजिए।
६. हेतौ को स्पष्ट कीजिए।
७. कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम् सूत्र को स्पष्ट करते हुए उदाहरण दीजिए।
८. रुच्यर्थानां प्रीयमाणः सूत्र की व्याख्या कीजिए।
९. ध्रुवमपायेऽपादानम् सूत्र के अनुसार अपादान कारक को स्पष्ट कीजिए।
१०. भुवः प्रभवः सूत्र की सोदाहरण व्याख्या कीजिए।
११. षष्ठी शेषे सूत्र के अनुसार सम्बन्ध को स्पष्ट कीजिए।
१२. आधारोऽधिकरणम् सूत्र के अनुसार अधिकरण को स्पष्ट कीजिए।
१३. अधिकरण को स्पष्ट करते हुए उसके प्रकार का भी वर्णन कीजिए।

✤

ISBN 978-93-84506-44-5
9789384506445
YP
युवराज पब्लिकेशन्स
42, लता कुंज, मथुरा रोड, आगरा-282002
मो० : 09012085100, 08273490793
E-mail : yuvrajpublications@gmail.com